समन्तकूटवण्णना

(सानुवाद पालि-महाकाव्य)

अनुवादक

आचार्य रामनक्षत्र प्रसाद

सम्पादक

प्रो० रमाशङ्कर त्रिपाठी



केन्द्रीय बौद्ध विद्या-संस्थान

चोगलमसर, लेह, लद्दाख

१९९२

विशेष पुरस्कार / विविध पुरस्कार हेतु
उ० प्र० संस्कृत अकादमी
को प्रेषित

[signature] 21-2-95
(राम नक्षत्र प्रसाद)

बौद्ध-हिमालय-ग्रन्थमाला–१०

महाकविवेदेहथेरेन विरचिता

समन्तकूटवण्णना

[पालिकव्यं भासानुवादसहितं]

भासन्तरकारो
आचरियो रामनक्षत्रप्रसादो
एम० ए०, आचरियो
पालिभासाय उपज्झायो

संसोधको
प्रो० रमाशङ्कर त्रिपाठी



केन्द्रीय बौद्ध विद्या-संस्थान
चोगलमसर, लेह, लदाख
१९९३

प्रधान-सम्पादक :
प्रधानाचार्य
केन्द्रीय बौद्ध विद्या-संस्थान
चोगलमसर, लेह, लदाख
पिन : १९४१०१

© केन्द्रीय बौद्ध विद्या-संस्थान, लेह, लदाख

प्रथम संस्करण–५५० प्रतियाँ, १९९३ ई०
मूल्य : सजिल्द रु०
अजिल्द रु०

प्रकाशक :
केन्द्रीय बौद्ध विद्या-संस्थान
चोगलमसर, लेह, लदाख
(जम्मू एवं कश्मीर)

मुद्रक :
शिवम् प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३ इण्डियन प्रेस कालोनी, मलदहिया
वाराणसी–२२१००२

BAUDDHA HIMĀLAYA GRANTHA MĀLĀ–10

ĀCARIYA–WEDEHATHERA'S

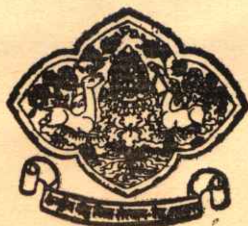
SAMANTAKŪṬAVAṆṆANĀ

TRANSLATED BY

ĀCĀRYA RĀM NAKSHATRA PRASĀD
Lecturer in Pali, Central Institute of Buddhist Studies
LEH, LADAKH

EDITED BY

PROF. RĀM SHANKAR TRIPĀTHĪ



CENTRAL INSTITUTE OF BUDDHIST STUDIES
LEH, LADAKH
1993

General Editor
Principal
Central Institute of Buddhist Studies
Choglamsar, Leh, Ladakh
Pin : 194101

© Central Institute of Buddhist Studies, Leh, Ladakh

First Edition—550 Copies, 1993
Price : H. B. Rs.
P. B. Rs.

Published by
The Principal
Central Institute of Buddhist Studies
Choglamsar, Leh, Ladakh (J&K)

Printed at
Shivam Printers
C-27/273, Indian Press Colony, Maldahia
Varanasi-221002

सम्पादकीय

संस्कृत और पालि के बौद्ध वाङ्मय में काव्य ग्रन्थों की अल्पता है। सम्भवतः इसका कारण बौद्ध धर्म का वैराग्य-प्रधान और निर्वाण-प्रवण होना रहा हो। फिर भी कुछ विद्वान् भिक्षुओं ने इस दिशा में महनोय कार्य किया है। जैसे एक कुशल वैद्य कड़वी और अरुचिकर औषधि को रोगी के हित में उसे चीनी में लपेट कर खिला देता है, ऐसे ही उन्होंने बौद्ध धर्म के दुरूह, सूक्ष्म एवं हितकारी तत्त्वों को काव्यात्मक शैली में सरस बनाकर उसके माध्यम से जन सामान्य को धर्म की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया है।

बौद्ध धर्म के विदेशों में प्रसार के साथ वहाँ विपुल ग्रन्थराशि भी पहुँची। दार्शनिक और धार्मिक साहित्य के साथ काव्य, शिल्प, ज्योतिष, चिकित्सा आदि विषयों के शास्त्र भी वहाँ गये। तत्तद् देशों के मनीषियों ने भी विभिन्न विषयों पर उत्कृष्ट ग्रन्थों की स्वतन्त्र रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीलङ्का-निवासी भदन्त विदेह स्थविर की रचना है। समन्तकूट-वण्णना नामक उनकी यह कृति पालि भाषा में उत्कृष्ट कोटि को काव्य-रचना है। देवनागरी लिपि में पहली बार इसका प्रकाशन हो रहा है। श्रीरामनक्षत्र प्रसाद ने इसे सर्वजन सुलभ बना कर सराहनीय कार्य किया है। इसके लिए वे सर्वथा धन्यवाद के पात्र हैं।

भगवान् बुद्ध और उनके सद्धर्म की ओर उन्मुख और प्रवृत्त होने की इस काव्य द्वारा बलवती प्रेरणा प्राप्त होती है। अपने कथन की पुष्टि के लिए मैं इस ग्रन्थ की दो गाथाओं को उद्धृत कर रहा हूँ।

उग्घोसयन्ता मम धम्मघोसं समाहनन्ता मम धम्मभेरिं।
साधुं धमेन्ता मम धम्मसङ्खं चराथ तुम्हे सनरामरानं॥
जयद्धजं मे भुवनुक्खिपन्ता उस्सापयन्ता मम धम्मकेतुं।
अथुक्खिपन्ता मम धम्मकुन्तं चराथ लोकेसु सदेवकेसु॥
भवतु सब्बमङ्गलं

रामशङ्कर त्रिपाठी

कार्तिकी पूर्णिमा
२९-११-१९९३

सततविततकित्ति धस्तकन्दप्पदप्प
तिभवहितविधानं सब्बलोकेककेतुं ।
अमितमनमनग्घं सन्तिदं मेरुसारं
सुगतमहमुदारं रूपसारं नमामि ॥

विषयानुक्रमणी

पुरोवाक्

पालि भाषा में रचित कतिपय काव्यों में 'समन्तकूटवण्णना' का विशिष्ट स्थान है। तथागत बुद्ध की जीवनी से सम्बद्ध होने के कारण इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। ऐसा लगता है कि काव्य-रचना को भिक्षुओं के लिए निषिद्ध कर्म मान लिए जाने के कारण बुद्ध के जीवन-काल और महापरिनिर्वाण के कई वर्ष बाद तक इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया। भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास को दृष्टिगत रखते हुए सम्भवतः कुछ भिक्षुओं ने बुद्ध के उपदेशों एवं उनकी चर्या को प्रचारित एवं जीवन्त करने हेतु कविता को माध्यम बनाया होगा। काव्य-शास्त्र का यह मानना भी है कि किसी क्लिष्ट या कम रुचिकर विषय को भी काव्य के माध्यम से सरल और ग्राह्य बनाया जा सकता है।

अस्तु! प्रस्तुत ग्रन्थ को देवनागरी लिपि में हिन्दी अनुवाद के साथ पालि-अध्येताओं के समक्ष लाने का विचार मेरे छात्र-जीवन में ही था। अपने विद्यार्थी-जीवन में ही मैंने इसका सिंहली संस्करण लखनऊ स्थित बुद्धिस्ट रिसर्च लाइब्रेरी में देखा था। इस संस्करण को पढ़कर ही मैंने इसे लिप्यन्तरित एवं रूपान्तरित करने का निश्चय किया। अब मेरे सामने समस्या थी इसकी पाण्डुलिपि प्राप्त करना; किन्तु लाइब्रेरी आफ कोलम्बो म्यूजियम के अपूर्व सहयोग से इसका समाधान सम्भव हो सका। कुछ एक अन्तरायों के कारण इस कार्य में शिथिलता आने के कारण मेरा उत्साह ढीला पड़ गया, जिसके कारण अनपेक्षित विलम्ब हो गया। इसके अतिरिक्त स्यामी एवं बर्मी संस्करण उपलब्ध न होने के कारण यहाँ रोमन एवं सिंहली संस्करणों के ही पाठभेद दिये गये हैं। सम्भवतः इसको कमी मेरे जैसे ही अन्य पाठको को भी अनुभूत होगी।

परम श्रद्धेय कल्याणमित्र गुरुवर स्व॰ प्रो॰ जगन्नाथ उपाध्याय के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ। यह ग्रन्थ उन्हीं की कृपा का फल है।

मेरे इस लघु एवं प्रथम प्रयास को साकार रूप देने के लिये केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान चोगलमसर, लेह-लदाख के अतिरिक्त प्रधानाचार्य श्री टशी पलजोर एवं प्रबन्ध-समिति के माननीय सदस्यों का जो महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला, उसके लिए

मैं उनका आभारी हूं। संस्थान की ओर से अपनी प्रकाशन-योजना के अधीन इस पुस्तक को लेकर उन्होंने मेरा और पालि भाषा का सम्मान किया है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के बौद्ध-दर्शन विभाग के अवकाश प्राप्त आचार्य डॉ॰ रामशङ्कर त्रिपाठी ने इस ग्रन्थ का पूर्वावलोकन एवं सम्पादन कर मुझ पर बड़ी कृपा की है। मैं उनके समक्ष श्रद्धावनत हूं।

इसके अतिरिक्त मेरे अभिन्न मित्र डॉ॰ रमेश कुमार द्विवेदी ने मुझे हमेशा इस कार्य में उचित सुझाव दिया है। इस सुझाव के लिए धन्यवाद शब्द बहुत कम पड़ रहे हैं। इस कार्य में मेरी जीवन-संगिनी श्रीमती ऊषा देवी का सहयोग भी अविस्मरणीय है, जिन्होंने परिवार के उत्तरदायित्वों से यथासम्भव दूर रखकर मुझे काम करने का पूरा अवसर दिया।

मेरी छात्रा कु॰ फुन्छोग डोलमा ने कुछ पाण्डुलिपियाँ अपने सुन्दर अक्षरों में तैयार की, इसके लिए वह धन्यवाद की पात्र हैं।

अन्त में शिवम् प्रिन्टर्स के व्यवस्थापक श्री निगम जी को धन्यवाद दिये विना मैं नहीं रह सकता, जिन्होंने अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी इस पुस्तक को अध्येताओं के समक्ष लाने में अपना महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया।

आशा है, सुधी पाठक-वृन्द मेरे इस प्रथम प्रयास को अपनाएँगे और इस संस्करण से सम्बन्धित त्रुटियों से भी मुझे अवगत कराएँगे।

रामनक्षत्र प्रसाद

केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान

लेह्-लदाख

तुषितावतरण

६ नवम्बर, १९९३

भूमिका

विदेह स्थविर एवं समन्तकूटवण्णना

पालि भाषा में काव्य-रचना के क्षेत्र में विदेह स्थविर का नाम अज्ञात नहीं है। काव्यकारों में अद्वितीय इस कवि के विषय में अधिक जानकारी मिल पाना अभी तक कठिन कार्य बना हुआ है। 'समन्तकूटवण्णना' की अन्तिम गाथाओं से हमें इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ये विप्रग्राम वंश के, आगमों में पारङ्गत एवं शीलगुणों से सम्पन्न एक सम्मानित भिक्षु थे। इनके उपाध्याय वनवासी सम्प्रदाय के आचार्य वनरतन आनन्द थे।[१]

जहाँ तक इनके काल का प्रश्न है, वह अभी तक प्राप्त कतिपय सूचनाओं के आधार पर तेरहवीं शताब्दी निश्चित होता है। कवि के द्वारा रचित तीन ग्रन्थों[२] एवं बुद्धप्पिय की रचना 'पज्जमधु' के कारण ही तेरहवीं शताब्दी का यह काल पालि काव्यों की रचना के इतिहास में समृद्ध माना जाता है। बनरतन आनन्द के तीन प्रमुख शिष्यों में विदेह स्थविर के साथ बुद्धप्पिय का नाम भी आता है।[3] बुद्धप्पिय का नाम विजयबाहु तृतीय (१२३२-१२३६ ई०) के शासन काल से सम्बद्ध है[४]।

---

१. "भुवनोदरम्हि पञ्ञातो रवीव'म्बरमण्डले।
अरञ्ञरतनानन्दमहाथेरो महागणी॥
जीवितं विय यो सत्थुसासनस्स महाकवी।
सारो सुप्पटिपत्तीसु सत्थसागरपारगो॥
तस्स सिस्सो'सि यो विप्पगामवंसेककेतुको।
ञातागमो' रञ्ञवासी सोलादिगुणभूसनो॥
यो' का सीहलभासाय सीहलं सद्दलक्खणं।
तेन वेदेहथेरेन कतायं पियसीलिना॥ सम० ७९९-८०२॥

२. सीहलसद्दलक्खणं, समन्तकूटवण्णना तथा रसवाहिनी।

३. अरञ्ञ'रञ्आदिमहायतिन्द-निच्चप्पबुद्धपदुमप्पियसेवितङ्घी।
बुद्धप्पियेन गुणबुद्धगुणप्पियेन थेरालिना रचितपज्जमधुं पिबन्तु॥
(पज्ज० गा० सं० १०३)

४. Pali Literature of Cylone, page 210-212, 220-225.

विदेह स्थविर के तीन ग्रन्थों में 'सीहलसद्दलक्खणं' की सूचना 'समन्तकूटवण्णना' के अन्तिम गाथाओं में तथा 'समन्तकूटवण्णना' की सूचना 'रसवाहिनी' की अन्तिम गाथाओं से मिलती है। इस प्रकार स्थविर द्वारा रचित इन काव्यों में क्रमशः 'सीहलसद्दलक्खणं', 'समन्तकूटवण्णना' एवं 'रसवाहिनी' हैं। एक उल्लेख के अनुसार बिजयबाहु तृतीय (१२३२-१२३६ ई०) के पश्चात् पराक्रमबाहु तृतीय ने १२३६ ई० में शासन संभालने के बाद वनरतन आनन्द के मुख्य शिष्य आरण्यक मेधंकर के नेतृत्व में एक सभा बुलाई और उस सभा की सहायता से भिक्षुओं के बीच विद्यमान कुछ मिथ्याचार के दोषियों को निष्कासित किया।[1] इस प्रकार वनरतन आनन्द का समय विजयबाहु के साथ अर्थात् तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध[2] और तदनुसार विदेह स्थविर का काल तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निर्धारित होता है।[3] एक अन्य विद्वान् ने इन्हें चौदहवीं शताब्दी का माना है।[4]

जो भी हो, इस महास्थविर द्वारा रचित 'समन्तकूटवण्णना' मुख्य रूप से एक आख्यानक है, जो इनकी अन्य कृतियों के समान ही पालि साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'समन्तकूट' नामक एक पर्वतशिखर पर तथागत बुद्ध के चरणों का अंकन इन काव्य की प्रमुख घटना है। इस एक घटना को आधार बनाकर बोधिसत्त्व के तुषितलोक में निवास से लेकर बुद्धत्व-प्राप्ति के अनन्तर तीन बार लङ्कागमन तक की कथा इस रचना का वर्णनीय विषय है। विदेह स्थविर की यह अमर कृति पालि साहित्य के आकाश में एक देदीप्यमान नक्षत्र है। रचना-शैली की दृष्टि से इस रचना पर संस्कृत-काव्यों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। यह प्रभाव मात्र पद्य रचना की दृष्टि से है। कथ्य को विभिन्न सर्गों या परिच्छेदों में बाँटने की प्रथा का यहाँ अभाव है। यद्यपि ग्रन्थ का विषय स्वयं बड़ा व्यापक है, तथापि इसे एक आख्यानक के रूप में प्रस्तुत करना ही कवि को अभीष्ट प्रतीत होता है। नौ प्रकार के विभिन्न छन्दों में निबद्ध इस काव्य में स्थविर ने सामान्यतया छोटे-छोटे शब्दों का गुम्फन किया है। किन्तु यत्र-तत्र लम्बे-लम्बे सन्धि-समासान्वित पद्यों का भी आश्रय लिया है। जैसे—

नीलवेल्लितधम्मिल्लजीमूतोभयकोटियं ।
निच्चविज्जुल्लताचक्कमनुञ्ञकण्णपासकं ॥ ४६ ॥

---

1. Pali Literature of Cylone, Page 213.
2. Dictionary of Pali Proper Names (Malalasekar, Page 869).
3. Pali Literature and Language (Gaiger, Page 43).
4. Histry of Pali Literature (B. C. Law, II Vol. Page 625).

सातकुम्भनिभाभासपयोधरघटद्वयं ।
सुवण्णाद्दितटायातनिज्झराकारहारकं ॥ ४७ ॥

इस काव्य में छन्दों का वैविध्य यथावश्यक विद्यमान है, किन्तु इन छन्दों के प्रयोग में कई स्थानों पर अनियमितता भी पाई जाती है। उदाहरण के रूप में चार चरणों वाले अनुष्टुप् छन्द में अतिरिक्त दो चरणों (३२०, ३३४, ४००) का तथा उपजाति के एक या दो चरणों का वंशस्थ (४०३, ४१४, ४५१) में प्रयोग मिलता है। हाँ, प्रसङ्ग को देखते हुए विदेह ने छन्दों का जो परिवर्तन किया है, वह अवश्य दर्शनीय है। संसार की अनित्यता की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए शिखरिणी जैसे मनोहर छन्द का प्रयोग कितना रुचिकर है—

सरीरो'यं बत्तिसविधकुणपो साररहितो,
परित्तं योब्बञ्ञं कुसुमसदिसं निग्गतसिरी।
पहन्त्वा गन्तब्बं भवजविभवं सम्भतमिदं
अथे' वं सन्ते भो अरयति भवं को नु हि बुधो ॥ ५७७ ॥

प्रस्तुत रचना में प्रयुक्त कुल दस प्रकार के छन्दों का विवरण निम्नवत् हैं—

क्र० सं०	छन्दनाम	गाथा सं०
१.	अनुष्टुप्	५४४;४५६; ४५९–४६०; ६१४–७०४, ७९७-८०२
२.	उपजाति	४०३–४५५; ४५७–४५८; ४६१–५०७; ५९५-६०३; ७१९–७२२; ७२४–७३२; ७५१–७५२; ७६०–७९१; ७९३–७९५
३.	वंशस्थ	४०३, ४१४ एवं ४५१ में एक-एक चरण
४.	इन्द्रवंशा	७२३, ७९२ तथा ४४९ का एक चरण
५.	भुजङ्गप्रयात	७४९
६.	वसन्ततिलका	४०१–४०२; ५०८–५५२; ६०४–६१३; ७०५–७१६; ७३५–७४८; ७५३–७५९
७.	मालिनी	१–४; ५५३–५७५; ५८२–५९४; ७३३–७३४
८.	शिखरिणी	५७५–५८१
९.	शार्दूलविक्रीडित	७५०
१०.	स्रग्धरा	७१७;७९६

विदेह द्वारा विहित सन्धि-कर्म में अन्य सामान्य बातों को छोड़कर एक बात ध्यातव्य है कि स्वरों की सन्धि में विषमता दृष्टिगत होती है। कहीं तो पालि व्याकरण के नियमानुसार असमान स्वरों को मिलाकर सन्धि युक्त शब्द (सितेभ = सित + इभ गा० सं० २८) लिखा गया है, किन्तु अन्यत्र इसी क्रिया के फलस्वरूप अनावश्यक रूप से (') का प्रयोग किया गया है। (दसे' कादसमासेन = दस + एकादसमासेन गा० सं० २९) संस्कृत में 'अ' के लिए प्रयुक्त (ऽ) के समान ही यहाँ एक नहीं कई स्वरों के लिए भी प्रयोग हुआ है। जैसे—'अ' के लिए-दस्सेत्वा' सेससिप्पं (गा० सं० ४२) 'इ' के लिए बुद्धो' ति (गा० सं० ८२), 'ए' के लिए काम' त्थ (गा० सं० ४५८)

अलंकारों का यत्र-तत्र प्रयोग रचना-शैली को और अधिक ग्राह्य बनाता है। इस ग्रन्थ में उपमा का अधिकाधिक प्रयोग इसी बात को ध्यान में रखकर किया गया है। इसके अतिरिक्त अनुप्रास, यमक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का भी प्रयोग यथास्थान मिलता है। उदाहरणार्थ उपमा यथा—

कन्तो वसन्तराजा' व कन्दप्पो' व सुरूपवा।
ससी' व दस्सनीयो च सुरियो विय तेजवा ॥ ५२ ॥

अनुप्रास यथा—

रङ्गत्तुङ्गतुरङ्गेहि गज्जितेहि च या पुरी।
सघोसुत्तुङ्गकल्लोललोलसागरसन्निभा ॥ १५ ॥

कवि की सर्जनात्मकता यदि बहुमुखी न हो तो काव्य में एकाकीपन का अनुभव होता है। 'समन्तकूटवण्णना' में इसका पूरा ध्यान रखा गया है। नदी, वाग, वन, नगर आदि को बड़े ही मनोरम ढंग से वर्णित किया गया है। जहाँ एक ओर संसार की अनित्यता, अनात्मता एवं दुःखता को विरक्ति प्रधान शैली में व्यक्त किया गया है, वहीं प्रकृति के मनोरम दृश्यों का सजीव वर्णन भी किया गया है। सुमेध देवता के मुख से समन्तकूट शिखर का प्राकृतिक चित्रण कवि ने जिस शब्द-विन्यास से किया है, वह दर्शनीय है। शिखर पर विराजमान वृक्ष-वृन्द के विषय में कवि का कहना है—

सम्फुल्लपुप्फत्थबकातपत्ता,
सन्धत्तरत्तङ्कुरमोलिमाला।
कन्तालतालिङ्गितखन्धदेहा,
तिट्ठन्ति भूपा व यहिं कुजिन्दा ॥ ७२७ ॥

पक्षियों के निरन्तर कूजन एवं भ्रमरों के गुञ्जन से समन्तकूट पर्वत मधुशाला के समान प्रतीत होता है—

निच्चं हि संरावविरावितानं बलाककादम्बकदम्बकानं।
आपानसाला विय सारसानं हंसालिनं मञ्जुलवासभूतिं ॥ ७३० ॥

उपर्युक्त तथ्यों से समन्वित 'समन्तकूटवण्णना' में तथागत बुद्ध की संक्षिप्त जीवन-चर्या तथा सिंहलद्वीप में उनके तीन बार गमन तथा 'समन्तकूट' पर उनके चरणों के अंकन का विवरण मिलता है। श्रावस्ती के जेतवन में छः एवं स्वर्ग में पारिजात के मूल में किये गए एक वर्षावास का उल्लेख भी यथास्थान (५४५–५९५) किया गया है। यद्यपि ये सारी सूचनाएँ हमें 'जातक', 'महावस्तु', 'बुद्धवंसो' आदि ग्रन्थों से मिल जाती हैं, तथापि एक रोचक काव्य के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत कर विदेह ने बौद्ध जगत् को अवश्य उपकृत किया है। ऐसी अनेक छोटी-बड़ी रचनाएँ अभी भी प्रकाश में आनी शेष हैं। देवनागरी लिपि में इसकी बड़ी न्यूनता है। पालि अध्येताओं का इस ओर ध्यान अपेक्षित है।

समन्तकूटवण्णना की कथावस्तु

ग्रन्थ का आरम्भ क्रमशः बुद्ध, धर्म और संघ की वन्दना से होता है। तुषित लोक में विद्यमान, दसों पारमिताओं की पूर्ति कर चुके बोधिसत्त्व देवताओं से आराधित हो, अपने जन्म के पाँच आधारों का अवलोकन कर कपिलवस्तु की महारानी महामाया देवी के गर्भ में प्रविष्ट होते हैं। इस स्थल पर कपिलवस्तु नगर एवं राजा शुद्धोदन के पराक्रम का विशद वर्णन किया गया है। माता महामाया के गर्भ से लुम्बिनी नामक वन में जन्म लेने के पश्चात् बोधिसत्त्व ने कुमार सिद्धार्थ के नाम से अभिहित हो अल्पकाल में ही विविध विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। सोलहवें वर्ष में यशोधरा नामक सुन्दरी कन्या के जीवन-साथी बने। यहाँ यशोधरा के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन बड़ी ही रोचक शैली में किया गया है। कालान्तर में उन्हें एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। कुमार सिद्धार्थ सुख और विलासिता के सभी साधनों से घिरे होने पर भी इस संसार से सदा विरक्त ही रहते थे। फलस्वरूप अपनी युवती पत्नी और नवजात शिशु को छोड़कर उन्होंने आधी रात में अपने राजमहल से अभिनिष्क्रमण किया। अपने अश्वराज कन्थक पर मन्त्री छन्न के साथ निकलकर महापथ पर अग्रसर हुए। मार्ग में उनके आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ चारों ओर मङ्गलदीपों एवं देवताओं द्वारा की गई पुष्पवृष्टि से वातावरण शोभायमान था। अनोमा नाम की नदी के तीर पर बैठे सिद्धार्थ पहले तो उसकी लहरों को देखते रहे और तत्पश्चात् उन्होंने वहीं प्रव्रजित होने का निश्चय किया। अपने बहुमूल्य आभूषणों को उतार कर छन्न को दे उसे नगर वापस लौटा दिया और तेज खड्ग से अपने केशों को काटकर यह कहते हुए ऊपर

आकाश में फेंक दिया कि—"जब तक मैं सुगत न बनूँ तब तक आकाश में ही रहो।' उस केशधातु को ब्रह्मा ने ले लिया और देवपुरी में एक मणिमय स्तूप का निर्माण कराया। बाद में सिद्धार्थ द्वारा त्यक्त वस्त्रों को भी ब्रह्मा ने सादर ग्रहण किया और स्वर्ग में बारह योजन विस्तार वाला बड़ा स्तूप बनवाया। उन्हीं के द्वारा उपलब्ध कराए गए अष्ट परिष्कार वाले काषाय वस्त्र को धारण कर सिद्धार्थ चङ्क्रमण करते हुए आम्रवन पहुँचे, जहाँ प्रीति-सुख के साथ एक सप्ताह बिताया। एक दिन अपने पात्र-चीवर के साथ वे राजगृह की गलियों में भिक्षाटन के लिए पहुँचे, जहाँ उनके शारीरिक सौष्ठव को देखकर वहाँ के लोग आपस में शिव, महाब्रह्मा, साक्षात् सूर्य, चन्द्र, विष्णु और वासुदेव आदि के रूप में उनके व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए उनका अनुगमन करने लगे। राजगृह से भिक्षा प्राप्त कर वे पण्डव पर्वत पर गये जहाँ अभूतपूर्व मिश्रित भोजन को अपने पात्र में देखकर उसके प्रति उत्पन्न अरुचि को अपने बल से हटाकर भोजनोपरान्त थोड़ा विश्राम किया। इस समाचार को सुनकर राजा बिम्बिसार उनसे यह अनुरोध करने पहुंचे कि बुद्ध बनने के बाद इधर जरूर आएँ। राजा के निमन्त्रण को स्वीकार कर महामति सिद्धार्थ उरुवेला में पहुँचे, जहाँ छः वर्षों तक की कठिन तपस्या के बाद भी उन्हें मुक्ति का मार्ग दिखाई नहीं दिया। तब वे अपने शरीर पर अनुकम्पा कर मध्यम मार्ग पर प्रतिष्ठित हुए। उस समय सेनानी निगम की सुन्दरी सुजाता अपनी मनोकामना पूरी होने से प्रसन्न चित्त हो उन्हें वटदेवता समझकर खीर से भरे पात्र को अर्पित कर बोली—"महादेव ! जिस प्रकार मेरी प्रार्थना पूरी हुई है, उसी प्रकार आप का सङ्कल्प भी शीघ्र पूरा हो।" धीर पुरुष सिद्धार्थ ने उस खीर को उनचास पिण्ड बनाकर ग्रहण किया और थाली को नीलवाहिनी नदी की उल्टी धारा में फेंक दिया। तदनन्तर शालवन में विश्राम करते समय उन्होंने पाँच स्वप्न देखे और उन पर विचार किया। सायंकाल बोधिवृक्ष के नीचे पहुँचते ही वहाँ एक चौदह हाथ ऊँचा विशाल आसन धरती को चीरता हुआ उदीयमान हुआ। सिद्धार्थ दृढ़ सङ्कल्प के साथ उस पर आसीन हुए। उनके इस उत्साह को देखने हेतु स्वर्ग से देवतागण भी आ पहुँचे। पाकशासन, सुयाम, पञ्चशिख, महाकाल (नागेन्द्र), तिम्बरु (सूर्य के समान ही तेजस्वी एक देवता), धृतराष्ट्र, विरुढ़क, विरूपाक्ष, नरवाहन इत्यादि सभी रक्षक के रूप में वहाँ आकर चारों ओर खड़े हो गए। कर्पूर, अगुरु और धूप से सुगन्धित आकाश में श्रीवत्स आदि अष्टमङ्गल के साथ सुर-सुन्दरियाँ लट्टू की भाँति नाच रहीं थीं। इस महान् उत्सव के सम्बन्ध में कवि का कहना है कि चतुर्मुख, ब्रह्मा, सहस्राक्ष (इन्द्र), दो हजार नेत्रों वाले शेषनाग और दसकण्ठ (रावण) भी इसका वर्णन नहीं कर सकते। मैं एक मुख से कैसे कहूँ।

उधर देवताओं के आवासों को खाली देखकर मार बड़ा चिन्तित हुआ और सिद्धार्थ कुमार के इस उत्सव का समाचार पाकर व्याकुल हो गया। अपनी सेना के साथ उसने बोधिवृक्ष पर घेरा डाल दिया। सभी देवगण वहाँ से पलायित हो गये। चक्रवाल शून्य हो गया। स्वभाव से कुटिल मार ने दुर्दिन उपस्थित कर असमय में इन्द्रधनुष, विद्युल्लता, प्रकाशहीन सूर्य, उल्कापात इत्यादि भयङ्कर स्थिति का निर्माण कर सिद्धार्थ की साधना में विघ्न डालने की कोशिश की। प्रलयकारी वायु ने वहाँ के वृक्षों, पर्वत शिखरों, मकान के छतों आदि को उखाड़ फेंका। किन्तु सिद्धार्थ के चारों ओर बने एक मण्डल के बाहर ही, बाकी सब कुछ प्रभावहीन रहा। निश्चल सिद्धार्थ निर्विघ्न अपने आसन पर आसीन रहे। इस प्रकार उस प्रथम मारयुद्ध में श्रीमान् सम्बुद्ध की विजय हुई।

प्रचण्ड वायु से बुद्ध को विघ्नरहित देखकर मार ने महामेघ की सृष्टि कर सब कुछ अपने अन्दर समेट लेने वाली बाढ़ के साथ आक्रमण किया। किन्तु यह क्या ? बुद्ध के रोम मात्र तक को भिंगोने में असमर्थ बाढ़ शीघ्र ही समाप्त हो गई। मार दूसरी बार भी पराजित हुआ।

ईर्ष्या एवं क्रोध से व्याकुल चित्त मार ने पुनः अङ्गारवृष्टि कर बुद्ध पर आक्रमण किया। नरक के मध्य प्रज्ज्वलित आग के मध्य से उठते हुए अङ्गारे बुद्ध के मण्डल के पास आकर पुष्पमाला के रूप में परिवर्तित हो उनके चरणों पर गिरने लगे। अपने इस तीसरे प्रयास में भी मार असफल रहा और बुद्ध को विजय मिली। इसी प्रकार पाषाणवृष्टि वाले चतुर्थ आक्रमण, आयुधवृष्टि वाले पञ्चम आक्रमण, चिनगारियों की वृष्टि वाले षष्ठ आक्रमण, सिकतावृष्टि वाले सप्तम आक्रमण, मांसवृष्टि वाले अष्टम आक्रमण, घने अन्धकार वाले नवम आक्रमण तथा चक्रायुध वाले दसवें आक्रमण में भी मार को मुँह की खानी पड़ी। पुनश्च पराजय की आग में जलते हुए मार ने अपनी पूरी सेना के साथ विभिन्न रूपों में सज्जित हो आक्रमण किया। तब आसनासीन सिद्धार्थ ने भी अपनी सेना का व्यूहन प्रारम्भ किया। सम्यक्प्रधानों एवं दया, मैत्री आदि से सन्नद्ध हो, श्रद्धा आदि दस बलों को आगे कर स्मृति—प्रस्थानों की चहारदीवारी और अभेद्य इन्द्रियों के मध्य में सुरक्षित हो स्थिरज्ञान के आयुधों को धारण किया। मैत्री रूपी कवच से कवचित सिद्धार्थ ने वीर्य रूपी ऊँचे हाथी पर सवार हो, पुण्य संभार के भार से पृथ्वीतल को कम्पित करते हुए दान आदि पारमिताओं को आमन्त्रित किया। सभी योद्धाओं ने एक साथ हुंकार भरी और मुनि के साथ मार का सामना करने चल पड़े। किन्तु यह क्या ? दुष्ट, सायुध, साडम्बर, दौड़ते और चिल्लाते हुए मार को निर्दोष, निरायुध निश्चल, बैठे और निःशब्द

सम्बुद्ध जीत रहा है। स्वभावतः कुटिल मार फिर भी बुद्ध से वाग्युद्ध प्रारम्भ करता है। वज्रासन पर अपना अधिकार बताता हुआ मार अपना साक्ष्य प्रस्तुत करता है। उसके अनुचर साक्ष्य देते हैं। बुद्ध की ओर से साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए पृथ्वी स्थल से जल पर्यन्त गर्जना के साथ नाचने लगी। उस आश्चर्य से भयभीत मार की सेना टूटे हुए सागरतीर की भाँति छिन्न-भिन्न हो गई। गिरिमेखला नामक हाथी (मार का) भगवान के चरणों में आ गिरा। उस समय मार के साथ ग्यारहवें युद्ध में बुद्ध की विजय एवं मार की पराजय हुई।

बुद्ध की विजय के साथ ही सभी देवतागण पूर्व की भाँति उन्हें घेर कर खड़े हो गये और उत्सव मनाने लगे। उधर महामुनि ने रात्रि के प्रथम प्रहर में स्कन्ध-सन्तति की भावना करते हुए 'पुब्बेनिवासानुस्सतिञाण', मध्य प्रहर में दिव्य-चक्षु का विशोधन कर 'चुतूपपातञाण' तथा अन्तिम प्रहर में जरा आदि का चिन्तन त्रिलक्षण (अनित्य, अनात्म एवं दुःख) को आरोपित करते हुए 'आसवक्खयञाण' प्राप्त किया।

सम्बोधिलाभ के पश्चात् अपनी सफलता का अनुभव करते हुए तथा इन्द्र आदि देवों से पूजित होते हुए प्रथम सप्ताह उन्होंने वहीं व्यतीत किया। उधर देवताओं के मन में यह विचिकित्सा थी कि अभी भी इनको बहुत कुछ करना है और ये चुपचाप बैठे हैं। उनके मन की बात को जानकर बुद्ध ने आकाश में जाकर ऋद्धि का प्रदर्शन किया और वृक्षराज के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए एक सप्ताह तक उसे अपने निर्निमेष नेत्रों से देखा। तीसरे सप्ताह में देवताओं, राजाओं, नागराजाओं और इन्द्र द्वारा पूजित होते हुए नीले आकाश में चन्द्रमा की भाँति वहीं चङ्क्रमण किया। चतुर्थ सप्ताह में वे बोधिवृक्ष के देवी-देवताओं द्वारा पश्चिमोत्तर दिशा में निर्मित श्रेष्ठ पर्यङ्क पर आसीन हो धर्म रूपी अगाध सागर का अपने ज्ञान रूपी सुमेरु से मन्थन करते रहे। तत्पश्चात् विमुक्ति से उत्पन्न श्रेष्ठ फल का अनुभव करते हुए बुद्ध ने अजपाल वृक्ष के मूल में पञ्चम सप्ताह व्यतीत किया।

उधर मारकन्याएँ अपने दुःखी पिता को देखकर उसके इस दुःख का कारण पूछती हैं। मार ने बड़े स्पष्ट शब्दों में अपने मुख पर बुद्ध द्वारा पुते कालिख की बात बताई। अपने पिता की पराजय का बदला लेने के लिए आतुर मारकन्याएँ सम्यक्सम्बुद्ध के पास आकर विविध हाव-भावों एवं संवादों से उन्हें लुभाने का असफल प्रयत्न करती हैं। अपने सभी अस्त्रों को निष्फल होता देख मारकन्याएँ अपने पिता के पास वापस लौट गयीं। मार ने उन्हें समझाते हुए कहा कि मैंने तो पहले ही तुम्हें मना किया था। तुम लोग कुमुदनाल से पर्वत को हिलाना चाहती हो? नख से पहाड़ खोदने चली हो? दाँतों से लोहा खाना चाहती हो?

इस प्रकार बुद्धत्व प्राप्ति के पञ्चम सप्ताह बीतते ही बुद्ध ने मुचलिन्द वृक्ष के मूल में आसान हो मुचलिन्द नाग के फणों की सुरक्षा में छठा सप्ताह व्यतीत किया। सप्तम सप्ताह राजायतन वृक्ष के नीचे बीतते ही देवराज इन्द्र के द्वारा लाए गये जल से हाथ-मुँह धोकर निवृत्त होते ही तपस्सु और भल्लुक नाम के दो व्यापारी पहुँचे। उनके द्वारा दिए अन्न को खाकर बुद्ध ने उन्हें धर्म का उपदेश दिया। दोनों ने बुद्ध ओर धर्म नामक दो वचनात्मक उपासकत्व ग्रहण किया।

अजपाल वृक्ष के मूल में आसीन बुद्ध जब अपने द्वारा अनुभूत ज्ञान के विषय में वितर्क कर रहे थे तभी देवराज द्वन्द्व ने देवताओं सहित आकर उनसे लोकहित में उपदेश-कार्य हेतु निवेदन किया। तथागत बुद्ध ने तत्क्षण सभी प्राणियों के प्रति करुणा उत्पन्न कर श्रद्धालु श्रोताओं के लिए उपदेश की घोषणा की। आलार और उद्दक का स्मरण करने पर उनके मृत भाव को जानकर पुनः वाराणसी के मृगदाय बन की ओर आते हुए पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को स्मरण कर उसी ओर जाने वाले मार्ग पर आरूढ़ हुए। मृगदाय वन में उन्होंने अपना प्रथम धर्म-चक्र प्रवर्तित किया। वहीं यश और उसके सहायकों को अर्हत्त्व के मार्ग पर प्रतिष्ठित कर वर्षा ऋतु व्यतीत की। वर्षाकाल के बीतते ही तथागत ने अपने शिष्यों को धर्मप्रचारार्थ प्रेरित कर विभिन्न दिशाओं में भेजा। स्वयं उरुवेला में तीस राजकुमारों को धर्म रूपी अमृत का पान कराकर उन्होंने उत्तरकुरु प्रस्थान किया। उत्तर कुरु में रहते हुए उन्होंने लङ्का में होने वाले यक्षों के अत्याचार को देखा और वहाँ जाने का निश्चय किया। उनकी यात्रा में ब्रह्मा, देवता, नाग, गरुड़, सिद्ध, विद्याधर आदि अपने पारिषदों के साथ सम्मिलित हुए। पुष्य मास की पूर्णिमा को आकाश-मार्ग से चलकर बुद्ध लङ्का द्वीप पर उतरे। वहाँ आततायी यक्षों को अपने ऋद्धि बल से भयभीत कर पुनः करुणावश उन्हें एक निश्चित द्वीप पर प्रतिष्ठित कर समुद्र के मध्य भेज दिया। लङ्का के इस प्रकरण को शान्त कर मुनि ने पुनः उरुवेला प्रस्थान किया। वहाँ से राजगृह की ओर भगवान् को आते देखकर राजा बिम्बसार ने उनकी पूजा का प्रबन्ध कर अपने श्रेष्ठ वेलुवन का दान दिया। बुद्ध ने द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्षावास वहीं किया। जेतवन में भगवान् के पञ्चम वर्षावास के समय लङ्काद्वीप में बहुत समृद्धि आई, किन्तु वहाँ के दो नागकुलों के बीच भयङ्कर विवाद हुआ, जिसके उपशमन हेतु तथागत चैत्र मास के कृष्ण पक्ष में उपोसथ के दिन लङ्का में दूसरी बार पहुँचे। वहाँ जलज एवं थलज नागों के बीच भयङ्कर वाग्युद्ध चल रहा था। बुद्ध ने अपने ऋद्धि के बल से उनको शान्त किया और संसार की अनित्यता और दुःखता के विषय में उपदेश भी दिया। नागों के इस प्रकरण को शान्त कर तथागत पुनः जेतवन लौटे और आठवाँ वर्षावास वहीं किया। कुछ दिनों पश्चात् लङ्का निवासी नागराज मणिअक्खिक वहाँ आकर

पुनः लङ्का पधारने हेतु भगवान से निवेदन करते हैं। उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर सम्बोधिप्राप्ति के आठवें वर्ष में परम कारुणिक बुद्ध अपने पाँच सौ प्रमुख शिष्यों के साथ आकाश पथ से छः रंगों वाली अपने शरीर की आभा को फैलाते हुए लङ्काद्वीप के कल्याणी जनपद में अवतीर्ण हुए। कल्याणी के नाग समूहों, उपस्थित देवताओं और अन्य प्राणियों द्वारा किये गये पूजाविधान को स्वीकार कर तथागत ने इस संसार के त्रिलक्षण तथा लोभ, द्वेष, मोह आदि दोषों के दुष्परिणाम का विभिन्न जातकों का उल्लेख करते हुए व्याख्यान किया।

कल्याणी में निवास के समय ही भगवान के समक्ष सुमनकूट (समन्तकूट) पर्वत के देवता सुमन अपने पारिषदों के साथ उपस्थित होकर निवेदन करते हैं कि—"भगवन् ! आपने न केवल मनुष्य, देवता, बल्कि संसार के सभी प्राणियों के ऊपर महती कृपा की है। मुझ सेवक पर एक और कृपा करके मेरे शिखर पर अपने चरणों की छाप छोड़कर मुझे आजीवन पूजा-अर्चना का पवित्र अवसर दीजिए।" यहाँ समन्तकूट (सुमनकूट) पर्वत शिखर का मनोहारी वर्णन प्रकृति-चित्रण का अनूठा उदाहरण है। तथागत के सुमनकूट शिखर पर पहुँचने पर सुमनदेव उनके चरणों का हृदय से गुणगान करते हैं। इस स्थल पर बत्तीस महापुरुष लक्षणों एवं अस्सी अनुव्यञ्जनों का व्याख्यान किया गया है। सुमनदेव की श्रद्धा और भविष्य में लोकहित को ध्यान रखते हुए महामुनि ने सम्बोधि प्राप्ति के आठवें वर्ष में वैशाख पूर्णिमा को दोपहर बाद अपना चरणचिह्न सुमनकूट पर अङ्कित किया। अकालमेघों ने सप्त रत्नों की वृष्टि की और पूरी पृथ्वी पुष्पों और स्वर्णिम चूर्णों से आच्छादित हो गई। उसी दिन सायंकाल भगवान् तथागत आकाशमार्ग से अनुराध पुर गये तथा कुछ क्षण के विश्राम के पश्चात् उन्होंने सुरम्य जेतवन की ओर प्रस्थान किया।

रामनक्षत्र प्रसाद
अनुवादक

•

समन्तकूटवण्णना की क्रमिक घटनाएँ

गाथा सं०	विवरण
१–५	बुद्ध, धर्म तथा सङ्घ को वन्दना एवं समन्तकूट पर्वतशिखर की पूजा-वन्दना का महत्त्व।
६–९	(तुषित लोक में) देवताओं द्वारा बोधिसत्त्व से मनुष्य लोक में जन्म-ग्रहण हेतु प्रार्थना।
१०–१९	कपिलवस्तु का वर्णन।
२०–२४	राजा शुद्धोदन का परिचय।
२५–२८	महामाया देवी का परिचय एवं उनकी कुक्षि में बोधिसत्त्व का प्रतिसन्धि-ग्रहण।
२९–४२	लुम्बिनी में सिद्धार्थ का जन्म एवं राजमहल की सुविधाओं के बीच कुमार की वृद्धि।
४३–५४	यशोधरा से सम्बन्ध तथा कुमार का शरीरसौष्ठव।
५५–५९	उद्यान-वर्णन।
६०–६७	किसा गोतमी द्वारा निर्वृति-पद का श्रवण एवं महल में सुन्दरियों के बीच सिद्धार्थ।
६८–८१	सुन्दरियों के भिन्न-भिन्न हाव-भावों में अनुरक्त न होकर महाभिनिष्क्रमण से पूर्व सिद्धार्थ द्वारा अपने पुत्र के दर्शन का विचार।
८२–९०	महाभिनिष्क्रमण तथा मार्ग में देवताओं द्वारा पूजा।
९१–१०३	अनोमा नदी के किनारे चीवर-धारण।
१०४–१२७	राजगृह में प्रवेश, नागरिकों का विस्मय।
१८२–१३२	मिश्रित भोजन के पश्चात् राजा बिम्बिसार से मिलन एवं बुद्धत्व-प्राप्ति के अनन्तर पुनः आगमन हेतु राजा का निवेदन।
१३३–१४३	छः वर्ष की कठिन तपस्या के पश्चात् मध्यम-मार्ग पर प्रतिष्ठित होते ही सुजाता द्वारा पायस-दान।
१४४–१४९	सायंकाल बुद्धत्त्व प्राप्ति का अन्तिम संकल्प कर वज्रासन में बैठना।

गाथा सं०	विवरण
१५०–१९७	वज्रासन में विराजमान भिक्षु के चारों ओर देवताओं द्वारा पूजा-विशेष का वर्णन।
१९८–२३५	मार का आगमन तथा देवताओं का पलायन एवं मार के प्रथम आक्रमण में तथागत की विजय।
२३६–२४७	मार के द्वितीय (जलौघ) आक्रमण में बुद्ध की विजय।
२४८–२५७	तृतीय (अङ्गारवृष्टि) आक्रमण में बुद्ध की विजय।
२५८–२६४	चतुर्थ (पाषाण-वृष्टि) आक्रमण में बुद्ध की विजय।
२६५–२६९	पञ्चम (शस्त्र वृष्टि) आक्रमण में बुद्ध की विजय।
२७०–२७४	षष्ठ (उल्का वृष्टि) आक्रमण में बुद्ध की विजय।
२७५–२७८	सप्तम (सिकता वृष्टि) आक्रमण में बुद्ध की विजय।
२७९–२८३	अष्टम (मांस-वृष्टि) आक्रमण में बुद्ध की विजय।
२८४–२८९	नवम (तमो-वृष्टि) आक्रमण में बुद्ध की विजय।
२९०–२९७	दसम (चक्रायुध) आक्रमण में बुद्ध की विजय।
२९८–३३५	एकादसम (सामूहिक) आक्रमण।
३३६–३८६	तथागत द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्तियों के व्यूहन के साथ मार का प्रत्युत्तर तथा ग्यारहवें विजय की उपलब्धि।
३८७–४०२	देवताओं का पुनरागमन एवं तथागत द्वारा सम्बोधिलाभ।
४०३–४६९	अभिसम्बोधि के अनन्तर बुद्ध द्वारा सौमनस्य के साथ बिताए गये सात सप्ताहों का विवरण।
४७०–४८८	तपस्सु एवं भल्लुक के दान का ग्रहण एवं सहम्पति ब्रह्मा द्वारा जनकल्याण हेतु उपदेश करने का निवेदन।
४८९–५०३	मृगदाय वन में प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन तथा विभिन्न दिशाओं में धर्म-प्रचारार्थ भिक्षुओं को भेजना।
५०४–५०७	उरुवेला में महाकस्सप के यहाँ यज्ञ।
५०८–५४४	प्रथम लङ्कागमन।
५४५–५५२	श्रावस्ती में द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम वर्षावास।
५५३–५७५	द्वितीय लङ्कागमन।
५७६–५८१	तथागत के उपदेश।
५८२–५९०	महोदर नाग के मामा नागराज मणिनयनक के निवेदन पर भगवान द्वारा पुनः कल्याणी आने हेतु स्वीकृति।

गाथा सं०	विवरण
५९१–५९५	जेतवन में षष्ठ वर्षावास। स्वर्ग में पारिजात के मूल में सप्तम वर्षावास तथा पुनः जेतवन में अष्टम वर्षावास।
५९६–६१३	श्रावस्ती का नगर-वर्णन।
६१४–७०४	नागराजाओं द्वारा तथागत के स्वागत की तैयारी तथा तथागत का पाँच सौ स्थविरों के साथ तृतीय लङ्कागमन।
७०५–७१६	नागों को धर्मोपदेश।
७१७–७८०	समन्तकूट पर्वत के देवता सुमेध द्वारा तथागत से अपना चरण चिह्न अंकित करने हेतु निवेदन तथा पर्वत शिखर का वर्णन।
७८१–७९६	समन्तकूट पर भगवान् के चरणों का अंकन तथा देवताओं द्वारा सुकृत्यों का प्रदर्शन।
७९७–८०२	कविपरिचय एवं सिद्धि की कामना।

•

संकेत-सूची

अने०–अनेकत्थवग्गो
अप०–अपदानपालि
अभि०–अभिधानप्पदीपिका
अभिधान०–अभिधानप्पदीपिका
अमर०–अमरकोश
कथा०–कथावत्थु
खु०पा०–खुद्दकपाठ
जा०–जातकपालि
जा०हि०–जातक (हिन्दी अनुवाद)
दीघ०–दीघनिकायपालि
दे०–देखिए
पटि०–पटिसम्भिदामग्गपालि
पाइंडि०–पालि इंग्लिश डिक्शनरी
ब०–पाण्डुलिपि ब्रिटिश म्यूजियम सं० ओ आर ४९८६
बु० अ०–बुद्धवंस अट्ठकथा
बुद्धगुण०–बुद्धगुणालङ्कार
मलल०–मललसेकर कृत डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स
रो०–रोमन संस्करण
विसु०–विसुद्धिमग्गो
शब्दार्थ०–संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ
सम०–समन्तकूटवण्णना
सं०–संख्या
सं० नि०–संयुत्तनिकायपालि
सिं०–सिंहली संस्करण
सु० अ०–सुत्तनिपात अट्ठकथा
सुगत०–सुकतकायपरिमापप्रकरणचिन्तामणि
सु० नि०–सुत्तनिपात

महाकविविदेहथेरेन-कता

समन्तकूटवण्णना

करुणासीतलहदयं पञ्ञापज्जोतविहतमोहतमं ।
सनरामरलोकगरुं वन्दे सुगतं गतिविमुत्तं ॥
(सुमंगलविलासिनी दीघनिकायट्ठकथा)

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

समन्तकूटवण्णना

पठमो विजयो

सततविततकित्ति धस्तकन्दप्पदप्पं
तिभवहितविधानं सब्बलोकेककेतुं।
अमितमनम[1] 'नग्घं सन्तिदं मेरुसारं
सुगतम' हमु' दारं रूपसारं नमामि ॥ १ ॥

जिसकी कीर्ति निरन्तर विस्तृत है, जिसने कामदेव के अहंकार को नष्ट कर दिया है, ऐसे तीनों लोकों[2] का हित करने वाले, सभी लोकों के एकमात्र ध्वज, विस्तृत हृदय वाले, अमूल्य शान्ति (निर्वाण पद) के दाता, सुमेरु के समान उत्कृष्ट रूप के धनी एवं (स्वभावतः) उदार सुगत को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

हतदुरिततुसारं मोहपङ्कोपतापं
मनकमलविकासं जन्तुनं 'सेसकानं।
कुमतिकुमुदनासं बुद्धपुब्बाचलग्गा
उदितम' हमु' दारं धम्मभानुं नमामि ॥ २ ॥

सम्पूर्ण प्राणियों के दुराचरण रूपी ओस (तुषार) का नाश करने वाले, मोह रूपी कीचड़ को सुखाने वाले, मन रूपी कमल को विकसित करने वाले, कुबुद्धि रूपी कुमुद का (अस्तित्व-) नाश करने वाले, बुद्ध रूपी पूर्वांचल के अग्रभाग से उदित हुए, उदार, धर्म रूपी सूर्य को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

सकलविमलसीलं धूतपापारिजालं
सुरनरमहनीयं पाहुनेय्याहुनेय्यं।

---

१. ०मति-सिं० ।

२. कामलोक, रूपलोक और अरूप लोक ।

उजुपथपटिपन्नं पुञ्ञखेत्तं जनानं
गणम 'हम 'भिवन्दे सारदं सादरेन ।। ३ ।।

सभी निर्मल शीलों से युक्त, पाप रूपी शत्रु-समूहों नाश करने, देवों तथा मनुष्यों द्वारा पूजनीय, अतिथि बनाने योग्य, आवाहन के योग्य, सरल मार्ग (मध्यम मार्ग) पर आरूढ़, लोक के लिए पुण्यक्षेत्र एवं उत्तम (ज्ञान) के दाता सङ्घ को मैं आदर के साथ नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

इति कलितपणामा हन्त्व सब्बोपसग्गे
सुगतविमलपादम्भोजसम्पातपूतं ।
सुमनसिखरिराजं वण्णयिस्सं सुरानं
वसतिम 'तुलमे 'तं साधु जन्तू सुणन्तु ।। ४ ।।

इस प्रकार प्रणाम करके सभी (सम्भाव्य) विघ्नों का नाश कर तथागत के स्वच्छ चरण-कमल के निधान से पवित्र, देवताओं के अतुलनीय निवास, सुमन नामक पर्वतों के राजा का वर्णन करूँगा । लोग ध्यान से सुनें ॥ ४ ॥

सवणा लपना चेव सतिया चापि वन्दना ।
यस्स सम्मा सुखी होति निब्बाणञ्चाधिगच्छति ।। ५ ।।

जिसके सम्यक् श्रवण, कथन, स्मृति एवं वन्दना से प्राणी सुखी होता है तथा निर्वाण को भी प्राप्त करता है ।। ५ ।।

तस्मा सप्पुरिसेहेदं[1] पत्थेन्तेहि तिसम्पदं ।
सवणीयं हि साधूहि अविक्खित्तेन चेतसा ।। ६ ।।

इसलिए तीन सम्पदाओं[2] की इच्छा करने वाले सज्जनों द्वारा यह तत्पर मन से श्रवणीय है ॥ ६ ॥

यो लोकतिलको नाथो पूरेत्वा दसपारमी ।
जातो 'सि तुसिते काये सन्तुसितो ति विस्सुतो ।। ७ ।।

---

१. सप्पुरिसेहीदं–सि० ।

२–शील, चित्त एवं प्रज्ञा (पाइंडि-सम्पदा)

(सम्पूर्ण) लोकों में श्रेष्ठ जो स्वामी दस पारमिताओं[1] की पूर्ति कर तुषित[2] लोक में उत्पन्न होकर सन्तुषित[2] रूप से जाने गये ॥ ७ ॥

आराधितो सुरादीहि कालो मारिस ते अयं ।
तिण्णो तारयि 'मं लोकं बाहु अप्परजक्खका ॥ ८ ॥

वे देवताओं द्वारा (इस प्रकार) आराधित हुए—भगवान्, अब तुम्हारा समय है कि अज्ञान (-सागर) से स्वयं पार होकर इस संसार को पार कराओ ॥ ८ ॥

एतदत्थाय ते वीर ! पूरिता दस पारमी ।
बाहुं पितुस्स पुत्तो व लोको आलम्बते तुवं ॥ ९ ॥

वीर ! इसीलिए तुमने दस पारमिताएं पूरी कीं। यह संसार उसी प्रकार तुम्हारा आलम्बन चाहता है, जिस प्रकार पुत्र पिता के बाहों का सहारा चाहता है ॥ ९ ॥

तेसं तं वचनं सुत्वा महासत्तो महामति ।
विलोकने विलोकेत्वा पञ्चामलविलोचनो ॥ १० ॥

उनके उन वचनों को सुनकर महाप्राण, महामति, पूर्ण ज्ञान से युक्त, उस (बोधिसत्त्व) ने (भविष्य में जन्म के) पाँच आधारों[3] को देखा ॥ १० ॥

जम्बुदीपग्गकमले कण्णिका व मनोरमा ।
पुरी कपिलवत्थू 'सि विसाणा व सुधासिनं ॥ ११ ॥

जम्बूद्वीप के अग्रभाग रूपी कमल में मनोरम कर्णिका की तरह, अमृतभोजी देवताओं की विषाणा[4] नगरी के समान कपिलवस्तु नगरी थी ॥ ११ ॥

---

१. दस पारमिताएँ = दानं सीलञ्च नेक्खम्मं पञ्ञाविरियपञ्चमं । खन्ती सच्चमधिट्ठानं मेत्तुपेक्खा 'ति मा दसा' ति ॥ (अप० २/३०४) (सम० गाथा—३४६-३५३)

२. सिद्धार्थ के रूप में जन्म लेने से पहले बोधिसत्त्व तुषित लोक में सन्तुषित नाम के राजा थे।

३. पाँच आधार = काल, द्वीप, देश, कुल एवं जननी (पाइंडि-विलोकन)

४. विषाणा = कुबेर की राजधानी (मलल-विसाणा)

सिङ्गीनिक्खमयाभासतुङ्गसिङ्गसमङ्गिता ।
मणिसीहपञ्जराकिण्णपासादा यत्थ भासरे ॥ १२ ॥

जहाँ स्वर्णिम हार का आभास कराने वाले, ऊँचे शिखरों से सुसज्जित तथा मणिमय सिंह पिंजरों से व्याप्त महल सुशोभित हो रहे थे ॥ १२ ॥

सघने गगने निच्चं सतेरतसतानि व ।
अनिलेरितपज्जोतसोण्णकेतू अहू यहिं ॥ १३ ॥

जहाँ मेघाच्छन्न आकाश में नित्य सैकड़ों बिजलियों के समान, वायु द्वारा हिलते हुए दीपशिखाओं के कारण स्वर्णध्वज जैसा (दिखाई देता) था ॥ १३ ॥

जनानं नीलनेत्तेहि वदनेहि तु या पुरी ।
मधुपालिसमोनद्धकञ्जनीसिरिमा वहे ॥ १४ ॥

जो नगरी लोगों के नीले नेत्रों वाले मुखों के कारण भ्रमरपंक्तियों से युक्त कमल-सरोवर की शोभा को धारण करती थी ॥ १४ ॥

रङ्गत्तुङ्गतुरङ्गेहि[1] गज्जितेहि च या पुरी ।
सघोसुत्तुङ्गकल्लोललोलसागर-सन्निभा ॥ १५ ॥

जो नगरी गर्जना करने वाले नाना प्रकार के ऊँचे घोड़ों के कारण शब्दायमान, ऊँची एवं चंचल लहरों वाले समुद्र के समान थी ॥ १५ ॥

आह्वमाना व[2] देवानं पुरलख्या भुजा-रिव ।
मन्दानिलेरिता रङ्गनानारागद्धजा यहिं ॥ १६ ॥

जहाँ देवताओं का आह्वान करने वाली नगरलक्ष्मी की भुजाओं के समान मन्द पवन द्वारा आन्दोलित विचित्र एवं नाना रंगों की ध्वजाएँ (फहरा रहीं) थीं ॥ १६ ॥

नानावेसधरा यस्मिं नानाभूसनभूसिता ।
नानासम्पत्तिसंयुत्ता नानाविज्जासु पारगा ॥ १७ ॥

---

१. रङ्गतुङ्ग०–सिं० ।

२. ०मानाय–ब० ।

जिस नगर में नाना वेश धारण करने वाले, नाना आभूषणों से भूषित, अनेक सम्पत्तियों से युक्त तथा नाना विद्याओं में पारङ्गत ॥ १७ ॥

नवयोब्बनउद्दामा रूपेन च मनोहरा ।
सच्चेसु निरता निच्चं अनक्कुट्ठकुला सियुं ॥ १८ ॥

नवयौवन के कारण स्वच्छन्द, रूप से मनोरम, निरन्तर सत्य में रत एवं आक्रोशरहित परिवार थे ॥ १८ ॥

निच्चं कीळाविदड्ढाहि[1] नरनारीहि सेविता ।
या पुरी साधुरूपा' सि मधुरालापिनी[2], व[3] सा[4], ॥ १९ ॥

नित्य (नाना) क्रीडाओं में चतुर नर-नारियों से सेवित जो नगरी आकार से सौम्य एवं मधुर आलाप करने वाली थी ॥ १९ ॥

तस्मि सद्धादयोपेता ओक्काककुलकेतुको ।
सुद्धोदनव्हयो आसि विस्सुतो भुवनत्तये ॥ २० ॥

उस नगरी में श्रद्धा और दया से युक्त ओक्काक (इक्ष्वाकु) कुल के ध्वज, त्रिभुवनविख्यात शुद्धोदन नामक (राजा) थे ॥ २० ॥

यस्साङ्घिकमले सब्बभूभुजानं महीतले ।
किरीटमणिभिङ्गाली कोळन्ती' व निरन्तरं ॥ २१ ॥

पृथ्वीतल पर जिस (शुद्धोदन) के चरणकमल पर सभी राजाओं के मणिमय मुकुट रूपी भ्रमरों की पंक्ति मानों निरन्तर क्रीडा करती थीं ॥ २१ ॥

यस्स पत्थटतेजेन पुरन्तो पि दिवाकरो ।
वहती' व' म्बरे लीलं ओसधीपतिनो दिवा ॥ २२ ॥

जिस (राजा) के विस्तीर्ण तेज के कारण नगर में प्रविष्ट सूर्य दिन में भी चन्द्रमा की लीला को धारण करता था ॥ २२ ॥

---

१. ०गि-ब० । २-४-आलापिनीहि च-ब०, सिं० ।

यस्स दानप्पवाहो तु नानायाचकजन्तुनं ।
मनोदधीसु वेलन्ते' तिक्कमन्तो व सन्ततं ॥ २३ ॥

जिसके दान की धारा तो मानो नाना याचकों के मन रूपी समुद्र में निरन्तर तटों का अतिक्रमण करती (हुई सी बहती) थी ॥ २३ ॥

मतिया सुरमन्तीव धनेन धनदो विय ।
रूपेण कुसुमेसू' व यो जुम्भति महीतले ॥ २४ ॥

पृथ्वी पर वह राजा बुद्धि से देवमन्त्री के समान, धन से कुबेर के समान तथा रूप से तो मानों फूलों के बीच जँभाई ले रहा था ॥ २४ ॥

तस्साभिसित्ता रज्जेन महामाया' ति विस्सुता ।
चन्दिका विय चन्दस्स गिरिजा' व कपालिनो ॥ २५ ॥

उसके द्वारा अभिषिक्त सुन्दरी रानी महामाया नाम से प्रसिद्ध, चन्द्रमा की चन्द्रिका जैसी तथा शिव की पार्वती जैसी थी ॥ २५ ॥

लक्खीव वासुदेवस्स सीता' व रामराजिनो ।
महेसी' सि वरारोहा सुन्दरी सुन्दराधरा ॥ २६ ॥

(वह) सुन्दरी विष्णु की (पत्नी) लक्ष्मी जैसी, राजा राम की सीता जैसी, उत्तम शारीरिक विकास वाली एवं सुन्दर अधरों वाली थी ॥ २६ ॥

तस्सा कुच्छिकरण्डम्हि अनग्घरतनं विय ।
बत्तिसेहि[1] निमित्तेहि विम्हापेन्तो सदेवकं ॥ २७ ॥

उसकी कोख रूपी पिटारी में अमूल्य रत्न की भाँति बत्तीस लक्षणों[2] से देवलोक को अचम्भित करते हुए —

---

१. बत्तिसाहि–रो० ।

२. बत्तीस महापुरुष लक्षण— १. सुप्रतिष्ठित चरण, २. हाथ-पैरों के तलवे में चक्र, ३. आयत पार्ष्णिभाग, ४. दीर्घ अंगुलियाँ, ५. कोमल हाथ-पैर, ६. जाल-युक्त हाथ-पैर, ७. कच्छप के शरीर की तरह ऊपर उठा पैर, ८. मृग की तरह जंघाएँ, ९. खड़े होकर भी बिना झुके

सितम्बुजकरो सन्तो सितेभच्छापको विय ।
कत्वा पदक्खिणं मातु पटिसन्धि अगण्हि सो ॥ २८ ॥

श्वेत कमल को हाथ में लिए हुए श्वेत हाथी के बच्चे के समान माता की प्रदक्षिणा करके उसने प्रतिसन्धि ग्रहण की ॥ २८ ॥

दसेकादसमासेन तस्से' वं आसि चेतना ।
पस्सितुं सकञातीनं गन्त्वान नगरं तदा ॥ २९ ॥

(गर्भधारण के) दस-ग्यारह[1] मास के पश्चात् उसे (महामाया को) अपने सम्बन्धियों को देखने की इच्छा हुई । तब नगर में जाकर—॥ २९ ॥

निवेदेत्वा तमत्थं सा रञ्ञो तेन सुसज्जिते ।
सपरिच्छदा तदा मग्गे गच्छन्ती अन्तरापथे ॥ ३० ॥

राजा से निवेदन कर आवरण से युक्त हो सुसज्जित मार्ग से जाती हुई मार्ग में—॥ ३० ॥

घुटने को छूने वाले हस्त-तल, १०. कोशाच्छादित बस्ति एवं गुह्य, ११. स्वर्ण-वर्ण, १२. पतली त्वचा, १३. प्रदक्षिणा-क्रम से एक रोमकूप में एक ही रोम, १४. ऊपर की ओर उठे हुए रोम, १५. सीधा शरीर, १६. सात स्थानों में उन्नति (राजा के पक्ष में प्रासाद, महाधन, महाभोग, प्रभूत सोना चाँदी, प्रभूत धन-साधन, प्रभूत धन-धान्य, परिपूर्ण कोश एवं कोष्ठागार । बुद्ध के पक्ष में—श्रद्धा, शील, हिरी, ओत्तप्प, श्रुत, त्याग एवं प्रज्ञा रूपी महाधन), १७. सिंहवत् पूर्वकाय, १८. स्कन्धों का मध्य भाग भरा हुआ, १९. न्यग्रोध के समान मण्डलाकार स्कन्ध, २०. स्कन्धाग्र का गोल होना, २१. हीन रस में भी उत्तम रस की अनुभूति, २२. सिंहवत् हनुकाय, २३. चालीस दाँत, २४. समान दांत, २५. घने दांत, २६. सफेद (चमकते) दाँत, २७. लम्बी जिह्वा, २८. ब्रह्मवत् स्वर, २९. नीले नेत्र, ३०. वृषभ की भाँति पक्ष्म, ३१. भौंहों के बीच ऊर्णा केश और ३२. शिरोदेश में उष्णीष ॥

(दीघ० III लक्खणसुत्त, सुगत० पृष्ठ १२,१३, बुद्धगुण० ९१–१०२)

१. दस महीने पूरे होने के पश्चात् सिद्धार्थ कुमार का जन्म हुआ, जब कि साधारण प्रसव दसवें मास में ही होता है । (तु०–जा० निदान कथा)

देवतानं मनोनन्दकर-नन्दनसन्निभं ।
दिस्वान लुम्बिनी नाम उय्यानं मननन्दनं ।। ३१ ।।

देवताओं के मनोरम नन्दन (-वन) के समान लुम्बिनी नामक मनोहर उद्यान को देखकर—।। ३१ ।।

तस्मिं कीळितुमुस्साहा पविसित्वान तं वनं ।
कीळन्ती उपगन्त्वान मङ्गलं सालपादपं ।। ३२ ।।

उसमें क्रीडा के कौतूहल से वन में प्रवेश कर क्रीडा करती हुई मङ्गलसूचक सालवृक्ष के पास जाकर—।। ३२ ।।

विलोलपल्लवाकिण्णं सुफुल्लकुसुमोनतं ।
गहेत्वा सालसाखं सा सुरत्तकरपल्लवा ।। ३३ ।।

चञ्चल पल्लवों से युक्त, विकसित पुष्पों के कारण झुकी हुई सालवृक्ष की शाखा को अपने करपल्लवों से पकड़कर—।। ३३ ।।

देवेहि गहितारक्खा महमाने सदेवके ।
जनेसि तनयं माया तत्रट्ठा लोकलोचनं ।। ३४ ।।

वहाँ देवताओं के संरक्षण में देव-मनुष्यों द्वारा पूजा किये जाते ही माया देवी ने संसार के नेत्र (सिद्धार्थ) को उत्पन्न किया ।। ३४ ।।

ब्रह्मानो लोकपाला च मनुस्सा कमतो तदा ।
सोण्णजालाजिनादीहि गण्हिसु जननन्दनं ।। ३५ ।।

ब्रह्माओं, लोकपालों[1] तथा उस समय वहाँ जाने वाले मनुष्यों ने जनानन्दकर (कुमार) को स्वर्णिम जालों एवं मृगचर्म आदि से ग्रहण किया ।। ३५ ।।

महिं पतिट्ठितो धीरो पस्सित्वान ततो दिसा ।
उत्तराभिमुखो सत्तपदं गन्त्वा' म्बुजे ठितो ।। ३६ ।।

---

१. लोकपाल = कुबेर, धृतराष्ट्र, विरूपाक्ष तथा विरूढक (पाइंडि-लोकपाल)

तब पृथ्वी पर प्रतिष्ठित उस धीर पुरुष ने उत्तर दिशा की ओर सात पग चलकर कमल पर स्थित हो—॥ ३६ ॥

दिसन्तं अवलोकेत्वा सुफुल्लम्बुजलोचनो ।
निच्छारेसा' सभि वाचं 'अग्गो सेट्ठो'ति आदिना ॥ ३७ ॥

विकसित कमल के समान नेत्र वाले (कुमार) ने दिशान्त का अवलोकन कर 'अग्गो सेट्ठो' अर्थात् 'अग्र, उत्तम'[1] आदि के द्वारा आर्ष वाणी व्यक्त की ॥ ३७ ॥

ब्रह्मामरनरादीहि पूजितो च नमस्सितो ।
कमेन अभिवद्धन्तो जुण्हपक्खे ससी यथा ॥ ३८ ॥

ब्रह्माओं, देवताओं तथा अन्य लोगों से पूजित एवं नमस्कृत होता हुआ वह (बालक) क्रमशः शुक्ल-पक्ष में चन्द्रमा की तरह बढ़ता हुआ—॥ ३८ ॥

ब्रह्मूनं छत्तछायाय मन्दारकुसुमन्तरे ।
सानन्दामन्ददेवेहि धुतचामरमज्झगो ॥ ३९ ॥

ब्रह्मा की छत्रच्छाया में मन्दार पुष्पों के मध्य आनन्दाधिक्य के कारण उत्तेजित देवों द्वारा डुलाये गए चामरों (चमरी गाय के पूँछों) के मध्य स्थित हो—॥ ३९ ॥

दिब्बेहि रूपसद्देहि गन्धेहि च रसेहि च ।
फोट्ठब्बेहि च दिब्बेहि मोदमानो अनेकधा ॥ ४० ॥

दिव्य रूपों, शब्दों, गन्धों, रसों तथा स्पर्शों के द्वारा नाना प्रकार से आनन्दित होता हुआ—॥ ४० ॥

दिब्बेहि रमणीयेहि नच्चेहि वादितेहि च ।
पदानेकसहस्सेहि थूयमानगुणाकरो ॥ ४१ ॥

दिव्य एवं मनोहर नृत्यों, वाद्यों तथा अनेक सहस्र गाथाओं द्वारा स्तुत एवं गुणों की खान (कुमार ने)—॥ ४१)

---

१. द्र०–जा० निदानकथा ।

पत्वा सोळसमं वस्सं ञातिसङ्घस्स मज्झगो ।
दस्सेत्वा' सेससिप्पं तं लोके विज्जति यं तदा ॥ ४२ ॥

सोलहवें वर्ष को प्राप्त कर सम्बन्धिसमूहों के बीच उस समय लोक में विद्यमान सम्पूर्ण शिल्पों को दिखाकर—॥ ४२ ॥

ञातिसङ्घं पमोदेन्तो देवे च मनुजे पि च ।
लद्धा यसोधरं देविम' नुकूलं जातिजातियं ॥ ४३ ॥

अपने सम्बन्धियों, देवताओं एवं अन्य लोगों को प्रमुदित करता हुआ जन्म-जन्मान्तर में अपने लिए अनुकूल यशोधरा देवी को (पत्नी के रूप में) प्राप्त किया ॥ ४३ ॥

सोण्णदप्पनसङ्काससोम्माननविभूसितं ।
नीलनीरजसङ्कासविसालायतलोचनं ॥ ४४ ॥

(वह) सोने के दर्पण के समान सुन्दर मुख से विभूषित एवं नीले कमल के के समान विस्तृत एवं आयत नेत्रों वाली थी ॥ ४४ ॥

सिङ्गारमन्दिरद्वारे धजोपमभमुद्वयं ।
हेमकाहलसङ्कासनासिकं रूपलक्खिया ॥ ४५ ॥

शारीरिक सौन्दर्य से शृंगार-मन्दिर के द्वार पर फहराती ध्वजाओं के समान दो भौहों वाली तथा सोने की बांसुरी जैसी नासिका से युक्त थी ॥ ४५ ॥

नीलवेल्लितधम्मिलजीमूतोभयकोटियं ।
निच्चविज्जुल्लताचक्कमनुञ्ञकण्णपासकं ॥ ४६ ॥

काले, गुँथे हुए जूड़े रूपी मेघ से युक्त दोनों कोरों पर नित्य चमकने वाली विद्युल्लता के चक्र के समान मनोहर कर्णफूल से सुशोभित थी ॥ ४६ ॥

सातकुम्भनिभाभासपयोधरघटद्वयं ।
सुवण्णाद्दितटायातनिज्झराकारहारकं ॥ ४७ ॥

स्वर्ण के कान्तिमान् घट के समान उसके दोनों स्तन थे । स्वर्णाद्रि[1] के किनारे से होकर आने वाले झरने के समान उसका (मोतियों का) हार था ॥ ४७ ॥

१. स्वर्णाद्रि=सुमेरु-अमर० (१।१।४९)

देहदेवद्दुमा[1]लम्बपारोहाभभुजद्वयं ।
अङ्गुलीपल्लवन्तम्बुविन्दुचारुनखावलिं ॥ ४८ ॥

उनके शरीर रूपी देववृक्ष पर लटकी दो शाखाओं के समान दो भुजाएँ थी। अङ्गुलि रूपी पल्लवों के अग्र भाग से टपकती हुई जल-विन्दुओं के समान सुन्दर उनकी नखावलि थी ॥ ४८ ॥

देहमालालिमालाभरोमराजिविराजितं ।
रूपण्णवतरङ्गाभवलित्तयविचित्तकं ॥ ४९ ॥

शरीर रूपी (पुष्प-) माला पर व्याप्त भ्रमर-पंक्ति के समान रोमपंक्ति से सुशोभित तथा सौन्दर्य रूपी सागर में तरङ्गों के समान त्रिवली के कारण वह विलक्षण थी ॥ ४९ ॥

सोण्णरम्भासमावट्टपीनोरुद्वयसुन्दरं ।
सन्नीरकलिकाकारचारुजङ्घाविभूसितं ॥ ५० ॥

(वह सुन्दरी) स्वर्णिम कदली वृक्ष के समान गोल एवं मोटे दो उरुओं से सुन्दर तथा नारियल की कली के समान सुन्दर जांघों[2] से विभूषित थी ॥ ५० ॥

पच्चक्खरूपलक्खिं व लीलानिचयसन्निभं ।
गुणानं आकरं साधु वेलं व रतिसागरे ॥ ५१ ॥

(वह) प्रत्यक्ष सौन्दर्यलक्ष्मी के समान, शोभासमूह के समान, गुणों का सुन्दर खजाना तथा रति (—क्रिया) रूपी समुद्र के तीर (तट) के समान थी ॥ ५१ ॥

कुमार वर्णन

कन्तो वसन्तराजा व कन्दप्पो व सुरूपवा ।
ससी व दस्सनीयो च सुरियो विय तेजवा ॥ ५२ ॥

(कुमार) वसन्तराज के समान कमनीय, कामदेव के समान सुन्दर रूप वाला, चन्द्रमा के समान दर्शनीय तथा सूर्य के समान तेजस्वी था ॥ ५२ ॥

---

१. देवदुमा—ब० ।
२. जङ्घा=घुटने से नीचे एड़ी तक का भाग ।

अचलत्तेन मेरुं व गम्भीरेन' ण्णवो विय ।
ब्रह्मस्सरो पियंवादी पञ्ञाय च अनूपमो ॥ ५३ ॥

स्थिरता में सुमेरु पर्वत के समान, गाम्भीर्य में समुद्र के समान, उत्कृष्ट (ब्रह्म-) स्वर वाला, प्रियवादी तथा प्रज्ञा में अतुलनीय था ॥ ५३ ॥

वसन्तो सो महावीरो पुरस्मि कपिलह्वये ।
दिस्वा निमित्ते चतुरो उय्यानगमनञ्जसे ॥ ५४ ॥

वह महा पराक्रमी कपिल (-वस्तु) नामक नगर में निवास करता हुआ उद्यान की ओर जाते हुए मार्ग में चार निमित्तों[1] को देखकर—॥ ५४ ॥

उद्यानवर्णन

पब्बज्जाभिरतो[2] नाथो रन्त्वा उय्यानभूमियं ।
सुफुल्लचम्पकासोकनागादागेहि मण्डितं ॥ ५५ ॥

प्रव्रज्या में अभिनिविष्ट स्वामी उस उद्यानभूमि में रमण कर जो सुपुष्पित चम्पक, अशोक, नाग आदि वृक्षों से सुसज्जित, ॥ ५५ ॥

फुल्लपङ्कजकल्हारजलासयसताकुलं ।
मन्दमन्दानिलायातनानामोदेहि वासितं ॥ ५६ ॥

पुष्पित कमल एवं कल्हार (भेंट का फूल) से युक्त सैकड़ों जलाशयों से व्याप्त तथा मन्द-मन्द वायु के साथ आने वाले नाना सुगन्धों से सुवासित, ॥ ५६ ॥

सरा सरं समायातमधुब्बतनिसेवितं[3] ।
फलपुप्फरसुद्दामद्विजसङ्घनिकूजितं ॥ ५७ ॥

एक तालाब से दूसरे तालाब तक आने वाले मधुकरसमूहों से सेवित एवं फल पुष्पों के रस से मस्त पक्षीसमूहों से निकूजित, ॥ ५७ ॥

---

१. चार निमित्त—देवताओं द्वारा निर्मित वृद्ध, रोगी, मृतक तथा सन्यासी (द्र०–जा० निदान कथा १२८)

२. पब्बज्जा विरतो—रो० । ३. मधुप्पत—ब० ।

नच्चन्तं मत्तमोरानं निच्चं मण्डपसन्निभं।
दिब्बन्तं मिगसङ्घानं कीळामण्डपसन्निभं ॥ ५८ ॥

नाचते मयूरों के स्थायी मण्डप के समान एवं क्रीडा करते हुए जानवरों के क्रीडामण्डप के समान, ॥ ५८ ॥

समीरसिसिरोदारधारासीकरवारिहि[1] ।
धारामण्डपपन्तीहि जनानन्दकरं वरं ॥ ५९ ॥

वायु के द्वारा शीतल किये गये एवं ऊँचे उठाए गये तीव्र फुहारों वाले जल के कारण तथा निर्झरसमूहों के द्वारा लोगों के लिए आनन्दकर तथा श्रेष्ठ ॥ ५९ ॥

उय्यानवनमागम्म देवराजा व नन्दनं ।
कीळन्तो निजपुत्तस्स सुत्वान जातसासनं ॥ ६० ॥

उस उद्यान वन में, नन्दन वन में देवराज इन्द्र के समान आकर आनन्दित होता हुआ अपने पुत्र की उत्पत्ति की खबर सुनकर ॥ ६० ॥

निवत्तो विस्सकम्मेन सहस्सक्खो व भूसितो ।
पुरं पविसमानो व किसागोतमिभासितं ॥ ६१ ॥

विश्वकर्म से निवृत्त सहस्राक्ष इन्द्र के समान सुशोभित होता हुआ वह नगर में प्रवेश करते हुये किसागोतमी[2] द्वारा कहे गये ॥ ६१ ॥

सुत्वान निब्बुति[3] पदं तदा चित्तानुकूलकं ।
सन्तुट्ठो सानुरागो च[4] लक्खग्घं तारभासुरं ॥ ६२ ॥

१. वारिभि—रो० ।
२. किसागोतमी—सिद्धार्थ कुमार की बुआ की लड़की (पितुच्छाधीता) (मलल० किसागोतमी) ।
३. निब्बुत—सिं० ।
४. ब—रो० ।

अपने मनोनुकूल निवृ̍तिपद[1] को सुनकर आह्लादित एवं सन्तुष्ट हो लाख मूल्य वाला एवं तारों के समान देदीप्यमान ॥ ६२ ॥

हारं तस्साय[2] पेसेत्वा गन्त्वान सकमन्दिरं ।
देवराजाविलासेन निसीदि पवरासने ॥ ६३ ॥

उसके लिए हार भेजकर अपने महल में जाकर देवराज इन्द्र के समान आनन्दित हो अपने श्रेष्ठ आसन पर बैठ गया ॥ ६३ ॥

अथा' गम्म तदा' नेकनाटिका परिवारयुं ।
विज्जन्ति भेरियो तासु[3] पग्गह्य काचि नारियो ॥ ६४ ॥

इसके अनन्तर अनेक नृत्याङ्गनाओं ने आकर उनको घेर लिया । उनमें से कुछ तो मृदङ्गों को पकड़ी हुई थीं ॥ ६४ ॥

नानालयसमाकिण्णं गीतं गायन्ति काचि पि ।
धमन्ति सुसिरं काचि काचि तन्तो[4] वयन्ति[4] च[4] ॥ ६५ ॥

(उनमें से) कुछ नाना प्रकार के लयों से युक्त गीत गा रही थीं । कोई बाँसुरी बजा रही थीं ॥ ६५ ॥

चारुबिम्बाधरा' रम्मपयोधरभरा सुभा ।
विसालायतनीलक्खा[5] सोमसोम्माननना तदा ॥ ६६ ॥

तब सुन्दर बिम्बाफल के समान (लाल) अधरों वाली, रमणीय स्तनभारों वाली, विशाल, लम्बे तथा नीले नेत्रों वाली एवं चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाली ॥ ६६ ॥

---

१. निर्वृतिपद—'निब्बुता नून सा माता' (द्र०—जा० निदानकथा)

२. तिस्साय—सिं० ।

३. तासुं—ब० ।

४—४. वादेन्ति तन्तियो सिं० ।

५. विसालो—ब० ।

नच्चन्ति पुरतो तस्स भेरिमण्डलमज्झगा ।
देवकञ्ञा' व रंगम्हि रसभावनिरन्तरा[1] ॥ ६७ ॥

मृदङ्गमण्डलों के बीच स्थित हो, रसमय हाव-भावों को निरन्तर प्रदर्शित करने वाली देवकन्या के समान (सुन्दरियाँ) उस (कुमार) के आगे नाचने लगीं ॥ ६७ ॥

दिस्वान तमच्छरियं[2] विरत्तो विसये तदा ।
उरत्ताळं व अद्दक्खि सब्बं तं भेरिताळनं ॥ ६८ ॥

उस आश्चर्य को देखकर विषयों में विरक्त कुमार ने उन सभी मृदङ्गवादनों को छाती पीटने के समान देखा ॥ ६८ ॥

परिदेवं व उपट्ठासि गीतं संसारदुत्तरे[3] ।
वायुवेगविकारं व नच्चं चिन्तेसि नायको ॥ ६९ ॥

नायक ने गीतों को दुस्तर संसार में विलाप के समान लिया तथा नृत्य को वायु वेग का एक प्रभाव (विकार) माना ॥ ६९ ॥

कदा' हं घरमो' सज्जो पब्बज्जासिरिमुब्बहे ।
इच्चेवं चिन्तयन्तो सो सुपन्तो' व सयि तहिं ॥ ७० ॥

"मैं कब घर छोड़कर प्रव्रज्याश्री (संन्यास) को धारण करूँगा" इस प्रकार सोचता हुआ वह वहीं सो गया ॥ ७० ॥

यं निस्साय मयं एत्थ नच्चगीतेसु व्यावटा ।
सो' यं दानि सुपि अम्हे कस्स दानि करोम तं ॥ ८१ ॥

"जिसके लिए हम यहाँ नृत्य-गीत में प्रवृत्त हुए थे, वह इस समय सो गया अब हम किसके लिए ऐसा करें ?" ॥ ७१ ॥

---

१. रं०—सिं० ।

२. तमच्चरियं—रो० ।

३. ० दुत्तरो—ब०, ० सागरे—सिं० ।

३

इति चिन्तिय ता[1] तत्थ तुरियेसु सके-सके ।
आलम्बा सयिता कञ्ञा सुसञ्ञाञ्ञमनिस्सिता ॥ ७२ ॥

ऐसा सोचकर सभी नृत्याङ्गनाएं एक दूसरे का और अधिक सहारा न मिलने के कारण अपने-अपने वाद्यों के सहारे वहीं सो गईं ॥ ७२ ॥

खादन्ति काचि दन्तानि काचि लाला वहन्ति च[2] ।
काचि रुदन्तियो तत्थ विलपन्ति अथापरा ॥ ७३ ॥

(सो जाने के उपरान्त) कोई दांत कटकटा रही थीं, कोई लार उगल रही थीं, कोई रोदन करने वाली थीं तो दूसरी विलाप कर रही थीं अर्थात् स्वप्न में बड़बड़ा रही थीं ॥ ७३ ॥

काकच्छन्ति पि सेम्हम्पि गिलन्ति च वमन्ति च ।
करोन्ति नादं नासाय घरू' ति च खिपन्ति च ॥ ७४ ॥

वे खांसतीं, बलगम उगलतीं एवं निगल जाती थीं। नाक से 'घरू' की आवाज करतीं तथा छींकती थीं ॥ ७४ ॥

मुत्तयन्ति तथा काचि रहस्सं विवरन्ति च ।
दुग्गन्धं वाति तं ठानं सुसानं आमकं यथा ॥ ७५ ॥

उस समय कोई पेशाब कर रही थीं तथा अपने गुप्त (अङ्गों) को भी व्यक्त कर रही थी। वह स्थान कच्चे मांस के समान दुर्गन्ध देता था ॥ ७५ ॥

पबुद्धो अद्धरत्तम्हि गते तत्थ निसीदिय ।
अद्दक्खि तासं' नेकानि विकारानि तहिं तदा ॥ ७६ ॥

(कुमार ने) अर्ध रात्रि के बीत जाने पर जागृत हो वहाँ बैठकर उनके अनेक विकारों को देखा ॥ ७६ ॥

---

१. ते—ब० ।
२. यो—रो०" ।

तस्सेवं पेक्खमानस्स भवे संविग्गचेतसो ।
आदित्तं व उपट्ठासि मने खलु भवत्तयं ।। ७७ ।।

इस प्रकार देखते हुए संसार में व्याकुलमन उस (कुमार) के मन में तीनों लोक[1] (भव) जलते हुए से उपस्थित हुए ।। ७७ ।।

दावग्गिदहनादित्तमहारञ्ञा[2] यथा गजो ।
तथे' वा' सि नरिन्दस्स गेहतो गमने मनं[3] ।। ७८ ।।

दावाग्नि के ज्वलन से प्रज्वलित अरण्य से जैसे हाथी अन्यत्र जाना जाना चाहता है, उसी प्रकार नरश्रेष्ठ का मन घर से निकल जाने में लगा ।। ७८ ।।

ततो उट्ठाय सयना करोन्तो अभिनिक्खमं ।
वितक्केसि महाराजा पस्सितुं सकमत्तजं ।। ७९ ।।

तब शयन से उठकर महाराज ने अभिनिष्क्रमण करते हुए अपने पुत्र को देखने का विचार किया ।। ७९ ।।

पविसित्वा ततो गब्भं सनिकं सन्तमानसो ।
पस्सित्वा सहपुत्तेन निद्दायन्तिं यसोधरं ।। ८० ।।

धीरे से शयनकक्ष में प्रवेश कर शान्तहृदय (कुमार) ने अपने पुत्र के साथ सोती हुई यशोधरा को देखकर—।। ८० ।।

चिरागतं महापेमं धारयं सकमानसे ।
'बुद्धो हुत्वा पि' मं सक्का पस्सितुं इति चिन्तिय ।। ८१ ।।

चिरकाल से आगत महाप्रेम को अपने चित्त में धारण करते हुए "बुद्ध होकर भी इन्हें देख सकता हूँ" ऐसा सोचकर ।। ८१ ।।

---

१. त्रिभव-काम, रूप एवं अरूप ।

२. दावानलसमादित्त॰ —सिं॰ ।

३. मति-सिं॰ ।

गतो नाथो ततो ठाना बोधिबद्धावमानसो[1] ।
"तदहे' वा' सि बुद्धो" ति कामुको को न चिन्तये ॥ ८२ ॥

बोधि (-प्राप्ति) में दत्तचित्त स्वामी उस स्थान से चले गये । "वे उसी दिन बुद्ध बन गये" ऐसा कौन विचारवान् है जो यह न सोचता हो ॥ ८२ ॥

सिनेरुमुद्धरन्तो व पादु' द्धरिय निक्खमं ।
छन्नमा' हूय आनीतं कन्थकं तुरगाधिपं ॥ ८३ ॥

सुमेरु पर्वत[2] के समान पाँव को उठाते हुए वे निकल गये । उन्होंने छन्न को बुलाकर अश्वराज कन्थक को बुलाया ॥ ८३ ॥

अस्सराजं तमा' रुह्य सह छन्नेन रत्तियं ।
देवेहि विवटद्वारा पटिपज्जि महापथं ॥ ८४ ॥

छन्न के साथ उस अश्वराज पर आरुढ़ हो रात में ही देवताओं द्वारा खोले गए दरवाजे से महापथ पर प्रतिपन्न हुए ॥ ८४ ॥

चक्कवालेसु नेकेसु देवता सुसमागता ।
दीपधूपद्धजेहे[3]' व गन्धमालेहि पूजयुं ॥ ८५ ॥

उस समय अनेक चक्रवालों में समागत देवताओं ने दीप, धूप, ध्वज तथा गन्ध-मालाओं से उनकी पूजा की ॥ ८५ ॥

पुरतो सट्ठि सहस्सानि दण्डदीपानि धारयुं ।
तथा दक्खिणपस्सम्हि वामपस्से च पच्छतो ॥ ८६ ॥

उनके आगे (पूर्व में) पीछे (पश्चिम में) दायीं तथा बाँयीं ओर साठ हजार देवता दण्डदीपक धारण किये हुए थे ॥ ८६ ॥

---

१. मानसा ब० सिं० ।

२. सिनेरु अर्थात् दुनियां के मध्य स्थित सुमेरु पर्वत, जो चौरासी हजार योजन गहरे समुद्र में तथा इतना ही सतह से ऊपर है । (सु० अ० २७४)

३. धजे चे'व–रो० ।

गगना पुप्फवस्सानि वस्सापेसुं सदेवका[1]।
मन्दारवं कोकनदं सुगन्धं चित्तपाटलिं ॥ ८७ ॥

आकाश से देवता सहित अन्यों ने भी मूँगा, कमल, सौगन्धिक आदि विभिन्न रंगों के पुष्पों की वृष्टि की ॥ ८७॥

चम्पकासोकपुन्नागनागपूगागसम्भवं ।
मालतीवस्सिका चादि नागवल्लीहि सम्भवं ॥ ८८ ॥

(उस समय वर्षा में गिरने वाले पुष्प) चम्पक (हेमवर्ण पुष्प), अशोक, पुन्नाग (वृक्ष श्रेष्ठ), नाग, सुपारी आदि वृक्षों से तथा मालती (चमेली), बेला और अन्य देवलताओं से उत्पन्न थे ॥ ८८ ॥

पदुमुप्पलकल्हारकुमुदाद' म्बुसम्भवं ।
सुगन्धमधुमत्ताहि छप्पदालीहि कूजितं ॥ ८९ ॥

(पुष्प) लाल कमल, नील कमल, श्वेत कमल और कुमुदिनी आदि जल से उत्पन्न तथा सुगन्धि एवं मधुरता से मतवाली भ्रमरपंक्तियों से कूजित थे ॥ ८९ ॥

पुप्फवस्सं पवस्सित्थ तिंसयोजनवित्थतं ।
पसत्थो तस्स[2] तुरगो दुक्खतो अगमी तदा ॥ ९०॥

वहाँ तीस योजन तक पुष्प वृष्टि होती रही जिससे उनका प्रसिद्ध घोड़ा भी बड़ी कठिनाई से चल पाया ॥ ९० ॥

एवं पूजाविधानेहि गन्त्वानोमं महानदिं ।
सितसेकतसंकिण्णं बहुमीनकुलाकुलं ॥ ९१ ॥

इस प्रकार के पूजा विधानों के साथ (कुमार) श्वेत बालुओं से व्याप्त तथा बहुत से मत्स्यकुलों से युक्त अनोमा नामक महानदी तक जाकर ॥ ९१ ॥

---

१. सुदेवका–सिं० ब० ।

२. तत्थ–सिं० ।

तीरट्ठो पस्सि सो धीरो गंगानारिं रसावहं ।
करोन्ति वीचिवाहाहि फेणपुप्फोपहारकं ॥ ९२ ॥

किनारे पर स्थित हो उस धीर-पुरुष ने रसमयी नदी रूप स्त्री को देखा जो मानों अपनी लहरों रूपी हाथों से फेन रूपी पुष्पों का उपहार प्रस्तुत कर रही थी ॥ ९२ ॥

अस्सेन तं महानोमं लंघापेत्वा महामति ।
परतीरे पतिट्ठासि विमले बालुकातले ॥ ९३ ॥

महामति (सुगत) घोड़े के माध्यम से उस महानोमा को पार कर स्वच्छ बालुओं के तल वाले दूसरे तीर पर प्रतिष्ठित हुए ॥ ९३ ॥

''पब्बजितुं मये'त्थे' व युत्तं नो मे पपञ्चितुं'' ।
इति चिन्तिय ओहाय धारिताभरणानि सो ॥ ९४ ॥

"अब मुझे अधिक झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। यहीं प्रव्रजित होना चाहिए" ऐसा सोचकर धारण किए हुए आभरणों को त्याग कर ॥ ९४ ॥

छन्नेन पटियादेत्वा कन्थकञ्च हयाधिपं ।
निसितं खग्गमुग्गह्य समोलि छिन्दि कुन्तलं ॥ ९५ ॥

अश्वराज कन्थक को छन्न के ऊपर सौंपकर तेज खड्ग उठाकर चोटी सहित (पूरे) केश को काट डाला ॥ ९५ ॥

एवं आवज्जयं नाथो सचे' हं सुगतं भवे ।
तिट्ठतु गगने गन्त्वा इति उक्खिपि च' म्बरे ॥ ९६ ॥

इस प्रकार हटाते हुए "जब तक मैं बुद्ध बनूं, आकाश में जाकर रहो" ऐसा कहकर स्वामी ने उन्हें आकाश में फेंक दिया ॥ ९६ ॥

ततो सक्को महग्घेन[1] मणिचङ्कोटकेन तं ।
पटिग्गहेत्वा सिरसा नेत्वा देवपुरं वरं ॥ ९७ ॥

---

१. महग्गेन-रो० ।

तब इन्द्र ने उसे बहुमूल्य मणिपेटिका में सिर के बल उठाकर श्रेष्ठ देवपुरी ले जाकर ॥ ९७ ॥

कारेत्वा मणिथूपं सो निधेत्वा तं सिरोरुहं ।
अन्वहं पतिमानेति सह देवेहि नेकधा ॥ ९८ ॥

वहाँ मणिमय स्तूप बनाकर उन केशों को उसमें रखकर प्रतिदिन देवताओं के साथ अनेक प्रकार से पूजा करने लगा ॥ ९८ ॥

महाब्रह्मोपनीतट्ठपरिक्खारं महामति ।
पटिग्गहेत्वा कासायं[1] निवत्थो पारुतो तदा ॥ ९९ ॥

(तब) महाब्रह्मा द्वारा लाये गये अष्ट परिष्कारों[2] से युक्त काषाय वस्त्र को (पहले वस्त्र से) निर्वस्त्र होकर स्वामी ने धारण किया ॥ ९९ ॥

पुब्बे विय' म्बरे गह्य अम्बरे खिपि नायको ।
पटिग्गहेत्वा तं ब्रह्मा नेत्वा ब्रह्मपुरं वरं ॥ १०० ॥

पूर्व की भाँति (पुराने वस्त्रों को) पकड़कर नायक ने आकाश में फेंक दिया । ब्रह्मा उसे ग्रहण कर श्रेष्ठ ब्रह्मनगरी में ले जाकर ॥ १०० ॥

द्वादसयोजनुब्बेधं कत्वा थूपवरं सुभं ।
तत्थ तं निदहित्वान पणिपातेति[3] सब्बदा ॥ १०१ ॥

बारह योजन की लम्बाई में एक शुभसूचक स्तूप का निर्माण कर उसमें उसे प्रतिष्ठित कर सदा पूजा करने लगा ॥ १०१ ॥

सम्पुण्णमनसङ्कप्पो पब्बज्जासिरिमुब्बहं ।
छादेन्तो कमलेने' व मरुं चङ्कमि नायको ॥ १०२ ॥

---

१. कासानं–रो० ब० सिं० ।

२. अष्ट परिष्कार—१-३ चीवर (उत्तरासङ्ग, सङ्घाटि, अन्तरवास), ४. भिक्षापात्र, ५. केशकर्तनिका, ६. सुई, ७. कटिबन्ध, ८. पानी की छलनी (पाइंडि-परिक्खार)

३. पातेही'ति–ब० ।

मन में पूर्ण सङ्कल्प से युक्त नायक प्रवज्याश्री को धारण करते हुए, कमल से आच्छादित हुए के समान मरु (भूमि) पर विचरण करने लगे ॥ १०२ ॥

ततो अम्बवनं गन्त्वा विन्दन्तो पीतिजं सुखं ।
वीतिनामयि सत्ताहं रम्मे पादपमण्डपे ॥ १०३ ॥

(इसके) अनन्तर आम्रवन में जाकर प्रीति से उत्पन्न आनन्द को प्राप्त करते हुए रमणीय वृक्षसमूहों में सात दिन बिताए ॥ १०३ ॥

ततो राजगहं गन्त्वा पोरुपित्वान चीवरं ।
गहेत्वा मणिवण्णं सो पत्तं करतलम्बुजा ॥ १०४ ॥

तब चीवर पहनकर अपने कमलवत् करतल से मणिवर्ण पात्र को लेकर राजगृह में पहुंचे ॥ १०४ ॥

बत्तिसलक्खणूपेतो अनुब्यञ्जनमण्डितो ।
ब्रह्मुज्जुगत्तो भगवा पुरसेट्ठं उपागमि ॥ १०५ ॥

बत्तीस महापुरुष लक्षणों[1] से युक्त तथा अस्सी अनुब्यञ्जनों[2] से विभूषित, सीधा शरीर वाले भगवान् श्रेष्ठ नगर में पहुँचे ॥ १०५ ॥

विसिख'न्तरेन गच्छन्तं लोकेकनयनं जना ।
दिस्वा एवं विचिन्तेसुं नायं यो सो जनाधिपो ॥ १०६ ॥

(नगर की) गली के मध्य जाते हुए, संसार के एकमात्र नेत्र को देखकर (नगरवासी) लोग ऐसा सोचने लगे—"यह कोई साधारण राजा नहीं है" ॥ १०६ ॥

"कामं पुरवधूसोम्मवत्तसम्बन्धकारणा ।
चन्दो' यमा' गतो अज्ज सकवेसेन" नो मति ॥ १०७ ॥

निश्चय ही, नगरवधुओं के सुन्दर मुखों के (समानता के कारण) सम्बन्ध से आज यह चन्द्रमा अपने (मौलिक) वेश में आया है"—ऐसा हम जानते हैं ॥ १०७ ॥

---

१. बत्तीस लक्षण—(दे० गाथा २७ की टिप्पणी)

२. अस्सी अनुब्यञ्जन—(दे० सम० गाथा ७६५-७७०) तथा (सुगत० पृष्ठ १३,१४,१५)

सुत्वान तं तदा केचि हसन्ता वचनन्तरं ।
"नायं ससी ससङ्को सो भानुमे' सो ति नो मति ।। १०८ ।।

तब उनकी बातों को सुनकर हँसते हुए कुछ "यह वह कलङ्क वाला चन्द्रमा नहीं है, यह सूर्य है" ऐसा हमारा मानना है, इस प्रकार दूसरी बात बोले ॥ १०८ ॥

'बोधेतुं आगतो कामं पोरीनं वदनम्बुजे ।
सकीयेने' व रूपेन विम्हयं पोरिमानुसे ।। १०९ ।।

'नगरवधुओं के मुखकमल पर काम जागृत करने के लिए अपने असली रूप में नगरवासियों को अचम्भित करता हुआ आया है ॥ १०९ ॥

'किं भो उम्मत्तका अत्थ एवं मा वदथाधुना ।
सतरंसी उण्हरंसी न सो एसो अविग्गहो' ।। ११० ।।

'क्यों भाई ! पागल हो गये हो क्या ? इस समय ऐसा मत कहो । यह सैकड़ों गर्म किरणों वाला सूर्य नहीं. बल्कि कामदेव है ॥ ११० ॥

कामेनालसजन्तूहि[1] कोळितुं[2] पुरमा' गतो ।
सरूपेन न[3] नो अत्थि संसयो खलु मानसे ।। १११ ।।

'काम (भोग) के कारण मस्त प्राणियों के साथ क्रीडा करने हेतु अपने असली रूप में नगर में आया है । हमारे मन में कोई सन्देह नहीं ।। १११ ।।

तेसं तं वचनं सुत्वा हसन्ता केचि जन्तवो ।
'तुम्हे खलु न जानाथ सबाणो सधनू हि सो ।। ११२ ।।

उनकी उस बात को सुनकर कुछ हँसते हुए बोल पड़े —"तुम लोग नहीं जानते हो । यह धनुष-बाण के साथ (राम) है ॥ ११२ ॥

इस्सरो कन्तरूपेन तुङ्गमन्दिरता पुरं ।
केलासो इति सम्पत्तो जहाथ विमतिं इध ।। ११३ ।।

---

१. कामेन०–ब०, २. कुलितुं–ब०, ३. लुत्त–ब० ।

"इस नगर के भवनों की ऊँचाई के कारण कैलाश (पर्वत) समझकर भगवान् (शङ्कर) मनोहर वेश में स्वयं आये हैं । इसमें व्याप्त शङ्काओं को छोड़ो ॥ ११३ ॥

तेसं पि वचनं सुत्वा हसन्ते' के जना तदा ।
नायं हरो तिनेत्तो सो केसवे' सो इधागतो ॥ ११४ ॥

तब उनके भी वचन को सुनकर कुछ हँसने लगे तथा बोले—'यह त्रिनेत्रधारी शिव नहीं हैं, ये केशव हैं, जो यहाँ आये हुए हैं ॥ ११४ ॥

विचिणन्तो सिरिं अज्ज पुरसेट्ठं उपागतं ।
वेसेन' ञ्ञेन मञ्ञाम एत्थ नो न' त्थि संसयो ॥ ११५ ॥

लक्ष्मी का अन्वेषण करते हुए केशव आज इस महानगर में वेश बदलकर आ गये हैं । इसमें कोई शङ्का नहीं है ॥ ११५ ॥

पहरित्वा करं केचि सुत्वा तं वचनं नरा ।
हसन्ते' वं तदा' वोचुं "वासुदेवो न वे अयं" ॥११६॥

उस बात को सुनकर कुछ लोग ताली पीटकर उपहास करते हुए बोले—निश्चय ही ये वासुदेव नहीं हैं ॥ ११६ ॥

कामं सरोजनाभो सो वामनो कण्हविग्गहो ।
अयमञ्ञतरवण्णेन आगतो पाकसासनो ॥११७॥

निश्चय ही वह कृष्णकाय तथा कमलनाभि और वामन हैं । इन्द्र स्वयं ही अन्य वेश में आया है ॥ ११७ ॥

पुरं देवपुर'न्ते तं मञ्ञमानो महाजुतिं ।
पस्सितुं ति पटिञ्ञातो मा भोन्तो विलपन्तु वे ॥११८॥

महान् तेज से युक्त इस नगर को देवनगर मानते हुए देखने हेतु प्रतिज्ञा किये हुए हैं । आप लोग (व्यर्थ) प्रलाप न करें ॥ ११८ ॥

---

१. देवं-ब० ।

सुत्वा तेसं गिरं केचि केलिं कत्वान' नेकधा ।
तुम्हे सक्कं न जानाथ सो हि भो वजिरायुधो ॥११९॥

उनकी बातों को सुनकर कुछ लोग हँसते हुए एवं अनेक प्रकार से उपहास करते हुए बोले—'अरे ! तुम लोग शक्र को नहीं जानते हो ? यह वही वज्र के अस्त्र वाला है ॥ ११९ ॥

एसो हि भो महाब्रह्मा ब्रह्मलोका इधागतो ।
पमत्ता किन्नु वेदम्हि ब्रह्मबन्धुपुरे इध ॥१२०॥

ये महाब्रह्मा हैं जो ब्रह्मलोक से यहाँ यह सोचकर आए हैं कि इस नगर के ब्राह्मण वेदों में प्रमादी तो नहीं हो गए हैं ? ॥ १२० ॥

अथे' सं वचनं सुत्वा केचि पण्डितजातिका ।
ने'ते चन्दादयो कामं मा मोहं भो पकासथ ॥१२१॥

इसके अनन्तर उनके वचन को सुनकर कुछ बुद्धिमान् (बोले)—ये चन्द्रमा इत्यादि नहीं हैं, निश्चय ही अपना अज्ञान मत प्रकट करो ॥ १२१ ॥

चतुराननो महाब्रह्मा सोमसोम्माननो अयं ।
स मन्तपोत्थको ब्रह्मा पत्तहत्थो' यमब्भुतो ॥१२२॥

चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाले ये चतुर्मुख महाब्रह्मा हैं। 'मन्त्र की पुस्तक वाले ब्रह्मा हाथ में पात्र धारण किये हैं' यही आश्चर्य है ॥ १२२ ॥

कामं पारमिसम्पुण्णपसत्थो[1] पुरिसो अयं ।
निच्चं वन्दथ पूजेथ थोमेथे' तं महाजुतिं ॥१२३॥

निश्चय ही पारमिताओं को पूरा करने वाला यह पुरुष प्रशंसनीय है। इस महान् तेजस्वी की नित्य वन्दना, पूजा एवं स्तुति करो ॥ १२३ ॥

एवं वदन्ता सब्बे ये नागरा पुरिसुत्तमं ।
गन्धपुप्फेहि पूजेन्ता नमस्सन्ता तमन्वगुं ॥१२४॥

---

१. पारमितापुण्ण–सिं० ।

इस प्रकार वार्तालाप करते हुए सभी नगरवासी पुरुषश्रेष्ठ की गन्धपुष्पों से पूजा करते हुए तथा नमस्कार करते हुए अनुगमन करने लगे ॥ १२४ ॥

नेत्तारित्तेहि पूजेन्तो मुनिनो रूपसागरे ।
जन्तवो मननावायो पारं पस्सिसु नो तदा ॥१२५॥

पूजा करते हुए मन रूपी नाव वाले वे लोग नेत्रों रूपी चप्पू से मुनि के सौन्दर्य रूपी समुद्र में पार नहीं पा सके ॥ १२५ ॥

तदा लोकेकनयनो सपदानेन वीथियं ।
चरं यापनमत्तं व लद्धा[1] गम्म पुरा बहि ॥१२६॥

तब संसार के एकमात्र चक्षु (सुगत) गलियों में पैदल चलकर यापनमात्र[1] के लिए (भोजन) प्राप्त कर नगर से बाहर आकर—॥ १२६ ॥

पण्डवं[2] गिरिमासज्ज तस्स-च्छायाय सो मुनि ।
सङ्घाटिं पञ्ञपेत्वान निसज्ज पुरिसासभो ॥१२७॥

पाण्डव पर्वत पर पहुँचकर उसकी छाया में सङ्घाटी फैलाकर बैठे हुए पुरुष-श्रेष्ठ ने—॥ १२७ ॥

अदिट्ठपुब्बं दिस्वान पत्ते मिस्सकभोजनं ।
सञ्ञातपटिकूलो तं नुदित्वा पच्चवेक्खणा ॥१२८॥

पात्र में अभूतपूर्व मिश्रित भोजन को देखकर (उसके प्रति) उत्पन्न अरुचि को ध्यानबल से हटाकर—॥ १२८ ॥

अमतं विय तं भुत्वा विक्खालेत्वा मुखं दका ।
पत्ते वत्तं चरित्वान मुहुत्तं तत्थ विस्समि ॥१२९॥

---

१. यापनमात्र-"मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं" अर्थात् भोजन में मात्रज्ञ होना (खु० पा० मङ्गलसुत्त)

२. पण्डं-ब० ।

उसे अमृत के समान खाकर, जल[1] से मुख को धोकर तथा पात्र की उचित सेवा (प्रक्षालन आदि) करके क्षण भर वहीं विश्राम किया ॥ १२९ ॥

पवत्ति तं निसामेत्वा बिम्बिसारो नरिस्सरो ।
सीघं तमुपगत्वान कतानुञ्ञो निसीदिय ॥१३०॥

(तथागत के आगमन सम्बन्धी) उस समाचार को सुनकर राजा बिम्बिसार शीघ्र वहाँ जाकर आज्ञा पाकर बैठ गया ॥ १३० ॥

निमन्तयित्वा रज्जेन अनिच्छन्ते नरिस्सरे ।
"अनुग्गहाय मे युत्तं बुद्धभूतेनि' धागमं" ॥१३१॥

राजा के द्वारा निमन्त्रित करने पर ऋषिराज की अनिच्छा जानकर "बुद्ध बनने के उपरान्त मेरे ऊपर अनुकम्पा के लिए यहाँ आपका आगमन युक्त है"-॥१३१॥

एवं निमन्तितो तेनाधिवासेत्वा महामति ।
अगमासु' रुवेलायं अतुलोरुपरक्कमो ॥१३२॥

इस प्रकार निमन्त्रित होने पर स्वीकृति प्रदान कर श्रेष्ठप्रज्ञ तथा अतुल एवं विशाल पराक्रम वाले (सुगत) उरुवेला में पहुँचे ॥ १३२ ॥

पधानं पदहित्वान छब्बस्सं अतिदुक्करं ।
पकासेत्वान[2] लोकस्य मोक्खं नत्थी' ति तेन सो ॥१३३॥

(वहाँ) छः वर्ष तक अत्यन्त दुष्कर तपस्या करके "संसार के लिए मुक्ति (इससे) नहीं है" यह प्रकाशित होने से वे—॥ १३३ ॥

ततोप्पभुति वत्तन्तो मज्झिमप्पटिपत्तियं ।
कायस्सानुग्गहं कत्वा ततो सम्पीणिति' न्द्रियो ॥१३४॥

---

१. "आपो पयं जलं वारि पानीयं सलिलं दकं (अभिधान० ११८) ।

२. पकासेत्वन—रो० ।

उस समय से मध्यम मार्ग[1] में प्रवृत्त हो शरीर पर अनुग्रह करके इन्द्रियों को सन्तुष्ट कर—॥ १३४ ॥

मूले' जपालनिग्रोधपादपस्स महामुनि ।
निसीदि निजसोभाहि ओभासेन्तो दिसो दिसं ॥१३५॥

महामुनि अजपाल[2] पीपल वृक्ष के मूल में अपनी शोभा से दिशाओं को प्रकाशित करते हुये बैठ गये ॥ १३५ ॥

तदा सेनानिनिगमे सुजाता किर दारिका[3] ।
सम्पुण्णमनसङ्कप्पा याचित्व वटदेवतं ॥१३६॥

उस समय सेनानीनिगम (गाँव) में सुजाता[4] नाम की कन्या वटदेवता की याचना कर (अपने) मन के सङ्कल्पों को पूरा कर—॥ १३६ ॥

धीरं देवो ति मञ्ञन्ती तुट्ठहट्ठा पमोदिता ।
हेमपातिं सपायासं दत्वान इदम'ब्रवि ॥१३७॥

(उस) धैर्यशाली को उस वृक्ष का देवता समझकर सन्तुष्ट, हर्षित एवं प्रसन्नचित्त हो खीरसहित स्वर्णपात्र अर्पित करती हुई बोली—॥ १३७ ॥

यथा मह्यं महादेव इच्छा पत्थितपत्थना ।
तथे' व तव सङ्कप्पो खिप्पमेव समिज्झतु ॥१३८॥

१, मध्यम मार्ग-कामसुखों का अत्यन्त उपभोग तथा तपश्चर्या द्वारा शरीर को पीड़ा पहुँचाना, इन दो अन्तों के बीच का मार्ग जिसे आर्य अष्टाङ्ग मार्ग भी बहते हैं। (पटि० ३१८) (सं० नि IV २६०)

२. अजपाल–तक पीपलवृक्ष जो बोधिवृक्ष वे पास ही था। (मलल–अजपाल)

३. धारिका–रो०, खीरदारिका सिं०, ब० ।

४. सुजाता–सुजाता ने पीपल वृक्ष से मनौती मान रखी थी कि यदि उसने एक पुत्र को जन्म दिया तो वह उसे खीर चढ़ाएगी। उसे पुत्र उत्पन्न हुआ तथा एकदम उसी दिन वह खीर चढ़ाने गयी जिस दिन उसे वहाँ सिद्धार्थ मिले। सुजाता के इस खीरदान को बड़ा महत्त्व मिला है। (मलल–सुजाता)

"महादेव ! जिस प्रकार मेरी प्रार्थित प्रार्थना सिद्ध हो गयी उसी प्रकार आपका सङ्कल्प शीघ्र ही पूरा हो ।। १३८ ।।

इति वत्वान वन्दित्वा कत्वा च नं पदक्खिणं ।
पक्कन्ताय सुजाताय धीरो पातिं समादिय ।।१३९।।

ऐसा कहकर बन्दना करके तथा प्रदक्षिणा कर सुजाता के चले जाने पर धीरपुरुष ने पात्र को उठाकर—।। १३९ ।।

उपगन्त्वानातिरम्मं नदिं सो नीलवाहिनीं ।
सुप्पतिट्ठितनामम्हि नदीतित्थे निसीदिय ।।१४०।।

अत्यन्त रमणीय नीलवाहिनी नदी पर जाकर 'सुप्रतिष्ठित' नाम नदीतीर्थ पर बैठकर—।। १४० ।।

भुञ्जित्वा ऊनपण्णासपिण्डं कत्वान भोजनं ।
विस्सज्जेत्वा ततो पातिं पटिसोतं नरासभो ।।१४१।।

भोजन को उन्चास कवल[1] बनाकर उसे खाकर पुरुषश्रेष्ठ ने पात्र को (नदी की) उल्टी धारा की ओर विसर्जित कर दिया ।। १४१ ।।

ततो सालवनुय्याने विस्समन्तो दिवा दिने ।
दिस्वान सुपिने पञ्च अत्थं तेसं विचिन्तिय ।।१४२।।

तब सालवन के एक बाग में विश्राम करते हुए दिन में ही पाँच स्वप्नों को को देखकर उनके प्रयोजनों का विचार किया ।। १४२ ।।

आबोधिमूलतो[2] मग्गे देवेहि समलङ्कते ।
मणितोरणपालीहि[3] पुण्णकुम्भद्धजादिहि ।।१४३।।

---

१. उन्चास पिण्ड–सिद्धार्थ ने भोजन को उन्चास कवल में ग्रहण किया जो बोधिप्राप्ति के बाद सात सप्ताह के उन्चास दिनों के लिये आहार बना (जा० निदानकथा)

२. आबधिमूलतो–रो० ।

३. तोरणादीपालीहि–ब० ।

बोधिवृक्ष के मूल तक देवताओं द्वारा मणिमय तोरणों की पंक्तियों, पूर्णकुम्भों तथा ध्वजादिकों से सुसज्जित मार्ग में, ॥ १४३ ॥

सायण्हसमये नाथो गच्छन्तो बोधिसन्तिकं ।
दिस्वान सोत्थियं नाम थूयमानद्विजुत्तमं ॥१४४॥

सायंकाल बोधिवृक्ष के पास जाते हुए स्वामी ने स्तुति करते हुए सोत्थिय[1] नामक ब्राह्मणश्रेष्ठ को देखा ॥ १४४ ॥

तेन दिन्न'ट्ठमुट्ठिन्तु गहेत्वा नीलसद्दलं ।
बोधिमूलमुपागम्म कत्वान तं पदक्खिणं ॥१४५॥

उसके द्वारा दी हुई आठ मुट्ठी हरी घास को लेकर बोधिवृक्ष के मूल में जा उसकी प्रदक्षिणा करके—॥ १४५ ॥

अकासि तिणसन्थारं पाचीनाभिमुखं तदा ।
ततो महिं द्विधा कत्वा समुट्ठासि महासनं ॥१४६॥

(घास से) चटाई बनाकर पूर्वाभिमुख हुए, तभी पृथ्वी को दो भागों में करके महा-आसन उपस्थित हुआ ॥ ४६ ॥

उद्धं[2] चुद्दसहत्थेन नानाचित्तविचित्तकं ।
अधिट्ठहित्थ तत्रट्ठो इच्चेवं दळ्हमानसो ॥१४७॥

(वह आसन) ऊँचाई में चौदह हाथ तथा नाना प्रकार के चित्रों से चित्रित था। उस पर स्थित हो दृढ़चित्त (सुगत ने) इस प्रकार प्रतिज्ञा की—॥ १४७ ॥

"कामं तचो नहारू च अट्ठी च अवसिस्सतु ।
उपसुस्सतु मे गत्ते सब्बन्तं मंसलोहितं ॥१४८॥

"भले ही मेरी त्वचा, नसें, हड्डियाँ सूख जाएं, शरीर तथा सभी मांस-रक्त सूख जाएं'—॥ १४८ ॥

---

१. सोत्थिय–एक घास काटने वाला, जिसने भगवान् को आठ मुट्ठी घास अर्पित की थी। (जा० निदानकथा)

२. उच्चं–सिं० ।

न उट्ठहाम' बुज्झित्वा न जहे विरियं मम ।
अधिट्ठहित्व एवं सो निसीदि वजिरासने ॥१४९॥

बिना ज्ञान प्राप्त किये नहीं उठूँगा; अपना पराक्रम नहीं छोड़ूँगा" इस प्रकार प्रण करके वज्रासन पर बैठ गये ॥ १४९ ॥

अनतिक्कमं ठपेत्वान चरणं चरणूपरि ।
कमलं कमलेने' व मणिबन्धं विधाय सो ॥१५०॥

बिना अतिक्रमण किये एक चरण को दूसरे पर, कमल के ऊपर कमल के समान रखकर मणिबन्ध बनाकर वे—॥ १५० ॥

बालासोकदलासत्तं[1] परं वासोकपल्लवं ।
निधाय नयनानन्दपाणिं पाणितले जिनो ॥१५१॥

विजयी ने अशोक की नयी कली से आसक्त अशोक के दूसरे पल्लव के समान, आँखों के लिए आनन्दकर (दाहिने) हाथ को (बाँये) हाथ के तलवे पर रखकर,—॥ १५१ ॥

यथा सञ्झाघनालीढतुङ्गकञ्चनपब्बतो ।
सुरत्तचीवरच्छन्नचारुगत्तविराजितो ॥१५२॥

सन्ध्याकालीन बादलों से आलिङ्गित ऊँचे स्वर्णपर्वत के समान, लाल चीवर से आच्छादित सुन्दर शरीर से सुशोभित,—॥ १५२ ॥

उदयाचलकोटिम्हि दिप्पन्तो व दिवाकरो ।
कन्धरोपरिदिप्पन्तमुखमण्डलमण्डितो ॥१५३॥

उदयाचल (पर्वत) की श्रेणी में देदीयमप्यमान सूर्य के समान स्कन्धों के ऊपर देदीप्यमान मुखमण्डल से विभूषित ॥ १५३ ॥

यथा चामीकरब्यम्हे सुनीलं सीहपञ्जरं ।
अकम्पो' कम्पपम्हेहि[2] पिहितद्धसुलोचनो ॥१५४॥

---

१. ०सत्त–सिं० ।

२. अकम्पो, कम्पपक्खेहि-रो० ब०; असम्पकम्पपम्हेहि-सिं० ।

स्वर्ण के महल में लगी काली खिड़की की तरह, अकम्पित भौहों के द्वारा सुन्दर नेत्रों को आधा बन्द कर निश्चल हो,—॥ १५४ ॥

नीलुप्पलकलापं व जननेत्तालिपातनं ।
सज्झुदण्डसमाबद्धबोधिक्खन्धमपस्सि सो ॥१५५॥

उस (सुगत) ने लोगों के नेत्रों रूपी भ्रमरों के गिरने के स्थान नीलकमल के समूह के समान, चाँदी के दण्डों से आबद्ध बोधिवृक्ष की शाखा को देखा ॥ १५५ ॥

निसिन्ने बोधितो छेज्ज पवाळतरुणङ्कुरा ।
पतमानसमन्ता[1] सुं तेजं विय कुबुद्धिनं ॥१५६॥

उनके बैठने पर बोधिबृक्ष के पल्लवों के अङ्कुर टूटकर कुबुद्धियों के बल के समान गिरते हुए चारों तरफ फैल गये ॥ १५६ ॥

देवा तत्थ समागच्छुं खिप्पं दससहस्सियं ।
कमलासनोरगा चे'व सिद्धविज्जाधरादयो ॥ १५७ ॥

शीघ्र ही वहाँ दस हजार लोकों से देवता, कमल पर आसीन नाग, सिद्ध, विद्याधर आदि उपस्थित हो गये ॥ १५७ ॥

सहम्पति महाब्रह्मा ब्रह्मसेनापुरक्खतो ।
सितातपत्तं धरिन्तो ठितो सम्बुद्धसन्तिके ॥ १५८ ॥

अपनी महती सेना के आगे होकर सहम्पति महाब्रह्मा श्वेतच्छत्र धारण कर सम्बुद्ध के पास (जाकर) बैठ गये ॥ १५८ ॥

वीसं[1] रतनसतायामं विजयुत्तरनामकं ।
सङ्खं धमेन्तो अट्ठासि सादरो पाकसासनो ॥ १५९ ॥

वहाँ इन्द्र बड़े आदर के साथ एक सौ बीस रत्नों[2] के बराबर विस्तार वाले (अपने) विजयोत्तर[3] नायक शङ्ख को बजाते हुए स्थित हुए ॥ १५९ ॥

---

१. विसं–ब ।

२. रतन–दो बित्ते का एक रतन (पाइंडि–रतन)

३. विजयुत्तर–इन्द्र के इस शङ्ख का विस्तार एक सौ बीस हाथ था । (मलल०–विजयुत्तर)

सुयामो सह सेनाय थोमयन्तो नराधिपं ।
मणितालवण्टं पग्गह्य मन्दमन्देन वीजति ।। १६० ।।

अपनी सेना के साथ सुयाम[1] नरश्रेष्ठ की स्तुति करते हुए मणिमय व्यजन को लेकर धीरे-धीरे डुलाने लगे ॥ १६० ॥

जितकित्तिलतग्गम्हि यसपुप्फं[2] व पुप्फितं ।
वाळबीजनमुग्गह्य अट्ठा सन्तुसितो तहिं ।। १६१ ।।

विजयकीर्ति रूपी लता के अग्र भाग में पुष्पित यश रूपी पुष्प के समान चमरी गाय की पूँछ वाले पंखे को लेकर सन्तुषित[3] वहाँ खड़े हो गये ।।१६१।।

वेलुवं वीणमादाय गीतं नानालयानुगं ।
पञ्चसिखो ठितो तत्थ गायमानो अनेकधा ।। १६२ ।।

कीचक बांस से बनी वीणा को लेकर अनेक प्रकार के लयों से युक्त गीत को गाते हुए पञ्चशिख[4] वहाँ स्थित हुए ॥ १६२ ॥

महाकालो पि नागिन्दो नागसङ्घपुरक्खतो ।
थोमेन्तो तत्थ अट्ठासि नवारहगुणादिहि ।। १६३ ।।

नागसमूह का नेतृत्व करते हुए नागराज महाकाल[5] नव प्रकार के अर्हत्-गुणों[6] द्वारा स्तुति करते हुये वहाँ स्थित हो गये ॥ १६३)

---

१. सुयाम–एक देवपुत्र जो तुषितावतरण के समय भी व्यजन लेकर बुद्ध का अनुगमन करता है। (मलल० सुयाम)

२. सस्स–सिं० ।

३. संतुषित–तुषित लोक का राजा ।

४. पञ्चशिख–एक गन्धर्व जिसका मुख्य वाद्यपत्र 'वेलुवपडिवीणा' है । (मलल-पञ्चशिख)

५. महाकाल–एक नागराजा जो बुद्धत्वप्राप्ति से पूर्व नागों सहित स्तुति गान करते हैं । (मलल–महाकाल)

६. अर्हत्, सम्यक् सम्बृद्ध, विद्याचरणसम्पन्न, सुगत, लोकवित्, अनुत्तरपुरुषषम्यसारथि, शास्ता, बुद्ध, भगवान्। (बुद्धगुण—८८–९०)

रङ्गभूमिं मापयित्वा गहेत्वान वरङ्गना ।
उपहारं करोन्तं'ट्ठा तिम्बरुसुरियवच्चसा ॥ १६४ ॥

रङ्गभूमि का निर्माण कर अपने श्रेष्ठ हाथी को लेकर उपहार चढ़ाते हुए से तिम्बुरु[१] सूर्य-तेज के साथ (एक तरफ) खड़े हुए ॥ १६४ ॥

आगन्त्वा सहसेनाय सितङ्गो सितभूसनो ।
धतरट्ठो ठितो पुब्बे आरक्खं कुरुमानको ॥ १६५ ॥

श्वेत रङ्ग में सुसज्जित श्वेत अङ्ग वाले धृतराष्ट्र[२] अपनी सेना के साथ आकर रक्षक के रूप में पूर्व में स्थित हुये ॥ १६५ ॥

पूरेन्तो सकसेनाय दक्खिणासं[३] विरूळ्हको ।
आरक्खं कुरुमान'ट्ठा नीलङ्गो नीलभूसनो ॥ १६६ ॥

नील वर्ण में सुसज्जित नीले अङ्गों वाले विरूढक अपनी सेना के द्वारा दक्षिण दिशा को भरते हुए रक्षा करते हुए से खड़े हो गये ॥ १६ ।

विरूपक्खो पि अट्ठासि पालयं पच्छिमं दिसं ।
रत्ताङ्गभरणो वम्मो[४] निजसेनापुरक्खतो ॥ १६७ ॥

रक्त वर्ण में सुसज्जित लाल अङ्गों वाले विरूपाक्ष भी कवच धारण कर अपनी सेना के आगे हो पश्चिम दिशा की रक्षा करते हुए खड़े हो गये ॥ १६७ ॥

उत्तरासं[५] ससेनाय आरक्खं कुरुमानको ।
सोण्णवण्णङ्गाभरणो अट्ठासि नरवाहनो ॥ १६८ ॥

---

१. एक प्रसिद्ध गन्धर्व ।

२. सबसे निचले देवलोक में रहने वाले चार लोकपाल धृतराष्ट्र, विरूढक, विरूपाक्ष और कुबेर जो क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा के रक्षक माने जाते हैं। (दीघ० II)

३. दक्खिणस्सं–सिं०, रो०, ब० दक्खिणायं–ब० ।

४. वम्मो-ब० ।

५. उत्तरस्सं–सिं०, रो०; उत्तरायं–ब० ।

स्वर्णाभूषणों से युक्त स्वर्गिम अङ्ग वाले कुबेर अपनी सेना के साथ उत्तर दिशा की रक्षा करते हुए खड़े हो गये ॥ १६८ ॥

किमेत्थ बहुलापेन जातिक्खेत्तम्हि देवता ।
आगता ने व चाहेसुं[1] सब्बे एत्थे'व वोसटा ॥ १६९ ॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ ? जन्म के क्षेत्र में आने वाला कोई देवता ऐसा नहीं था जो वहाँ नहीं आया हो। सब वहीं टूट पड़े थे ॥ १६९ ॥

गगना' तो तिण्णकेतुपादेहि पठवीतले ।
नागादयो(न) धूतासुं केतूनां बहु का कथा ॥ १७० ॥

आकाश से लटकने वाली ध्वजाओं के कारण पृथ्वीतल पर नागादि को हिलना तक कठिन था। उन ध्वजाओं का अधिक क्या कहना ? ॥ १७० ॥

न धूता धजपादेहि वायुतु'द्दामवुत्तिहि ।
तारका गगने ब्रूमो किन्नु तत्थ धजाळुता[2] ? ॥ १७१ ॥

वायु के द्वारा आन्दोलनशील ध्वजाओं के कारण आकाश में तारागण भी नहीं हिल पाए। वहाँ ध्वजाओं का तो क्या कहना ? ॥ १७१ ॥

पुब्बदिसाचक्कवालसिलायु' ग्गतकेतुनं ।
पादानि' परभागादिचक्कवाळसिल' न्वगुं[3] ॥ १७२ ॥

पूर्व दिशा मण्डल के शिलातल से निकली ध्वजाओं के अग्र भाग पश्चिम दिशामण्डल तक जा पहुंचे ॥ १७२ ॥

चक्कवालमहामेरु-युगन्धरनगादयो ।
पुप्फावतंसका' वा' सुं नानावण्णेहि सङ्खता ॥ १७३ ॥

---

१. नाहेसुं-ब० ।
२. जालका-ब० ।
३. ०चक्र०-ब० ।

चक्रवाल, महामेरु, युगन्धर तथा अन्य पर्वतादि नाना वर्णों से सुसज्जित होकर पुष्प के गुच्छों की भाँति (लग रहे) थे ॥ १७३ ॥

वामामन्दमकरन्दविन्दुसन्दोहसुन्दरं ।
उल्लोल[1] पदुमाकिण्णवितानं' वा' सि अम्बरं ॥ १७४ ॥

(उस समय) आकाश, सुन्दर एवं अधिक पुष्प-परागकणों के गिरने से सुन्दर श्वेत कमलों से व्याप्त वितान के समान था ॥ १७४ ॥

खित्तसोगन्धचुण्णानि देवब्रह्मादिना तहिं ।
वितानं विय खायन्ति चक्कवाळग्गमण्डपे ॥ १७५ ॥

वहाँ चक्रवाल (= मण्डल) रूपी श्रेष्ठ मण्डप में देवता, ब्रह्मा आदि के द्वारा प्रक्षिप्त सुगन्धित चूर्ण वितान की तरह लग रहे थे ॥ १७५ ॥

कप्पूरागरुधूपेहि तत्थ तत्थुग्गतेहि मा[2] ।
कालब्भकूटच्छन्नो[3]' व आसि म-ञ्ञं कथेमु किं ॥ १७६ ॥

यहाँ-वहाँ उड़ते हुए कपूर, अगर तथा धूपों से चन्द्रमा[4] ऐसा प्रतीत होता था जैसे मानों कालमेघ की श्रेणियों से ढंक गया हो। अन्य कुछ क्या कहा जाए ? ॥ १७६ ॥

जातिक्खेत्तेसु देवेहि कतग्घिकुसुमादिना ।
नो' सीना धरणी भारा दिसेभानं बलं अहो ! ॥ १७७ ॥

जन्म के क्षेत्रों में रहने वाले देवताओं द्वारा किए गए अर्घ्य एवं पुष्पादि के भार से पृथ्वी डूब नहीं गई, यह दिग्गजों के बल पर आश्चर्य है ॥ १७७ ॥

अम्बरालम्बमानानि पुप्फदामानि भूतलं ।
आकड्ढणासा[5] देवेहि बद्धरज्जू' व भासरे ॥ १७८ ॥

---

१. उल्लोल–सिं० २. मं–ब०, ३. ०छत्तं–ब० ।

४. मा चन्द्रमा (अभिधान० १०) ।

५. आकड्ढनाय–ब० ।

आकाश से लम्बायमान पुष्पमालाएं, पृथ्वी को खींचने की आशा से देवताओं द्वारा बँधी रस्सी के समान सुशोभित थीं ॥ १७८ ॥

अञ्ओञ्ञकरमुग्गह्य गगने सुरसुन्दरी ।
परिब्भमन्ता गायन्ति तत्थ-तत्थ मनोरमं ॥ १७९ ॥

परस्पर हाथ पकड़कर आकाश में इधर-उधर परिभ्रमण करती सुरसुन्दरियाँ मनोरम गीत गा रहीं थीं ॥ १७९ ॥

उभो भुजे विकासेत्वा मण्डिता सुरसुन्दरी ।
भमति मत्तभेण्डू' व तत्थ-तत्थ' म्बरे युगा ॥ १८० ॥

सुसज्जित देवसुन्दरियाँ युगलभाव से अपनी भुजाओं को खोलकर यहाँ-वहाँ घूमते लट्टू की भाँति नाच रहीं थीं ॥ १८० ॥

नीलुप्पलकलापादो गहेत्वान सुरङ्गना ।
ठिता' सुं परिवारेत्वा पूजमाना नरिस्सरं ॥ १८१ ॥

देवाङ्गनाएं नीलकमल आदि के गुच्छों को लेकर नरसम्राट् को घेरकर पूजा करती हुई खड़ी हो गयीं ॥ १८१ ॥

रत्तपल्लवकल्हारकमलुप्पलसङ्गते ।
सन्नीरकुसुमाकिण्णे पुण्णे सोगन्धवारिहि ॥ १८२ ॥

लाल पल्लवों वाले कल्हार, (श्वेत-) कमल एवं नील कमल से युक्त, सुगन्धित जलों से पूर्ण तथा नारियल पुष्पों से व्याप्त ॥ १८२ ॥

कञ्चनाधिगते गह्य अम्बरे सुरसुन्दरी ।
कत्वान सुगतं मज्झे पूजयिंसु समन्ततो ॥ १८३ ॥

स्वर्णयुक्त आसमान में सुरसुन्दरियाँ सुगत को मध्य में करके चारों ओर से पूजा करने लगीं ॥ १८३ ॥

कञ्चनादासहत्था च काचि कञ्ञा तथा ठिता ।
तालवण्टे गहेत्वान ठिता' सुं काचि देवता ॥ १८४ ॥

वहाँ कोई बाला हाथ में सोने का दर्पण लेकर तथा कोई देवी पंखा लेकर खड़ी थी ॥ १८४ ॥

काचि मङ्गलसंयुत्तवचना 'तव पत्थना ।
समिज्झतू' ति घोसेन्ति परिवारेत्वा ठिता जिनं ॥ १८५ ॥

कुछ सुन्दरियाँ विजयी को घेर कर स्थित हो मङ्गलयुक्त वचनों से 'तुम्हारी प्रार्थना सिद्ध हो' ऐसी घोषणा कर रही थीं ॥ १८५ ॥

सिरिवच्छादि पग्गह्य अट्ठमङ्गलमुत्तमं ।
ठिता' सु गगने नारी परिवारेत्वा मुनिस्सरं ॥ १८६ ॥

श्रीवत्स[1] आदि आठ मङ्गलसूचक वस्तुओं को लेकर सुन्दरियाँ योगिराज को घेर कर आकाश में खड़ी हो गयीं ॥ १८६ ॥

नच्चन्ति केचि कीळन्ति सेलेन्ति उललन्ति च ।[2]
वादन्ति केचि गायन्ति चेलुक्खेपं करोन्ति च ॥ १८७ ॥

वहाँ कुछ नाच रहीं थीं, कुछ क्रीड़ा कर रही थीं तथा कुछ सीटी मार रही थीं। कुछ बाजा बजा रहे थे तो कुछ गा रहे थे और कुछ रूमाल ऊपर फेंक रहे थे ॥ १८७ ॥

नेकपुप्फग्घपन्ती च तथा दीपग्घिपन्ति च ।
मणिचामीकरासज्झु-अग्घिकापन्तियो तथा ॥ १८८ ॥

वहाँ अनेक प्रकार के पुष्पमय अर्घ्यों की पंक्तियाँ, दीपार्घ्यों की पंक्तियाँ तथा मणि, स्वर्ण एवं चाँदी की अर्घ्यपंक्तियाँ ॥ १८८ ॥

१. मङ्गलसूचक श्रीवत्सकिन् घोड़ा जिसके मुख, पूंछ, अयाल, छाती तथा चारों खुरों पर सफेद बाल होते हैं । (शब्दार्थ-अष्टमंगल)

२. सेलेन्ति च ललन्ति च ।

आब्रह्मभवनु' ग्गम्म चक्कवाळसमन्ततो ।
तिट्ठन्ति जलमानायो बुद्धस्स मङ्गलुस्सवे ॥ १८९ ॥

चक्रवाल (= मण्डल) से लेकर ब्रह्मा के भवन (ब्रह्मलोक) तक बुद्ध के मङ्गलोत्सव में जलती हुई सुशोभित हो रहीं थीं ॥ १८९ ॥

सत्तरतनसम्भूता नानातोरणपन्तियो ।
हेमरम्भामया चा पि तथा दुस्समया सियुं ॥ १९० ॥

सात रत्नों[1] से निर्मित, स्वर्णिम कदलीवृक्ष से युक्त तथा वस्त्रनिर्मित नाना प्रकार की तोरणपंक्तियाँ थीं ॥ १९० ॥

नानावण्णेहि नेकेहि छत्तेहि च निरन्तरं ।
चक्कवाळोदरं आसि सरं व कमलाकुलं ॥ १९१ ॥

अनेक वर्णों के नाना छत्रों से चक्रवाल का मध्यभाग, कमलों से व्याप्त सरोवर की भाँति (लग रहा) था ॥ १९१ ॥

तत्थ तत्थु' ज्जलानेकयन्तदीपावली मही ।
तारकाजालकाकिण्णगगनङ्गनसन्निभा ॥ १९२ ॥

यहाँ-वहाँ प्रज्ज्वलित अनेक विद्युद्दीपों के कारण पृथ्वी नक्षत्रसमूहों से व्याप्त आकाश-प्राङ्गण जैसी (लग रही) थी ॥ १९२ ॥

धजन्तरितछत्ता'सुं चक्कवाळगिरूपरि[2] ।
निरन्तरा'सुं तत्थे'व घटदीपा च तोरणा ॥ १९३ ॥

चक्रवाल के ऊपर ध्वजाओं के अन्तरालों में छत्र (सुशोभित) थे । घट, दीप तथा तोरण सदा (शोभायमान) थे ॥ १९३ ॥

---

१. सात रत्न-स्वर्ण, चाँदी, मोती, मणि, नीलमणि (लाजावर्त) हीरा और मूंगा । (पाइंडि-सत्तरतन)

२. चक्रवाळा-ब० ।

नानातुरियनादेहि नानासङ्गीतिकाहि च ।
साधुवादेहि नेकेहि चक्कवाळो फुटो सियुं ॥ १९४ ॥

नाना प्रकार के वाद्यों के घोषों से तथा अनेक प्रकार के संगीतों एवं अनेक प्रकार के साधुवादों से चक्रवाल शब्दायमान हो उठा ॥ १९४ ॥

अहो महन्तता तस्स बुद्धस्स कतमङ्गले ।
पूजाविसेसं तं को हि मुखेने'केन भासति ॥ १९५ ॥

बुद्ध के लिए किये गये उस मङ्गलोत्सव की महानता पर आश्चर्य है। उस पूजाविशेष को कोई एक मुख से कैसे कह सकता है ॥ १९५ ॥

चतुम्मुखो सहस्सक्खो द्विसहस्सनयनो फणी ।
दसकण्ठो पि तं सब्बं ने'व सक्कोन्ति भासितुं ॥ १९६ ॥

चतुर्मुख (ब्रह्मा), सहस्राक्ष (इन्द्र), दो हजार नेत्र वाले शेषनाग तथा दस कण्ठों वाला (रावण) भी उस वृत्त को सम्पूर्ण रूप में नहीं कह सकते हैं ॥ १९६ ॥

एवं सुरासुरब्रह्मवेनतेय्योरगादिहि ।
निरन्तरं कतानेकमहामहसमाकुले ॥ १९७ ॥

इस प्रकार सुर, असुर, ब्रह्मा, गरुड़ तथा नागों आदि से निरन्तर किये गये उत्सवों से परिपूर्ण—॥१९७॥

तस्मि तु वासरे मारो पस्सित्वा भुवनं इदं ।
आमन्तेत्वा सानुचरे आहे'वं सकुतूहलो ॥ १९८ ॥

उस दिन मार ने इस लोक को देखकर अपने अनुचरों को आमन्त्रित कर कौतूहल पूर्वक ऐसा कहा—॥१९८॥

"सब्बे दिब्बविमाना भो सुञ्ञा दिस्सन्ति छड्डिता ।
पुरपालम्प'हापेत्वा[1] क्व गता'सुं सदेवका ?" ॥ १९९ ॥

---

१. पहारेत्वा—ब० ।

"अरे ! सभी देवभवन शून्य एवं त्यक्त दिखाई दे रहे हैं। एक नगरपाल को छोड़ देवता सहित बाकी सब कहाँ चले गये ? ॥१९९॥"

"किं भो मार, न जानासि मत्तो सुत्तो'सि अज्ज किं ।
सुद्धोदनिय[1]-सिद्धत्थो मायाय तनयो अयं ॥ २०० ॥

"अरे मार ! क्या तुम नहीं जानते ? क्या पागल हो गये हो या आज सो गये थे ? सुद्धोदन-पुत्र एवं मायातनय यह सिद्धार्थ—॥२००॥

"पूरेत्वा पारमी सब्बा कत्वान अभिनिक्कमं ।
बोधिमूले निसिन्नो'सि अज्ज बुद्धो भवामि'ति" ॥ २०१ ॥

"अभिनिष्क्रमण करके सभी पारमिताओं[2] की पूर्ति कर 'आज बुद्ध बनूंगा' ऐसा विचार कर बोधिवृक्ष के मूल में बैठा हुआ है ॥२०१॥"

"तस्स पूजाविधानत्थं दससहस्सीसु देवता ।
समागता हट्ठतुट्ठा करोन्त'ज्ज महामहं" ॥ २०२ ॥

"उसकी पूजा करने हेतु दस हजार लोक धातुओं में रहने वाले देवता हर्ष एवं सन्तोष के साथ आकर आज महान् उत्सव कर रहे हैं ॥२०२॥"

"किन्नु ते बधिरं सोत किन्नु परिहायि लोचनं ।
धजग्गा ते न दिस्सन्ति उल्लोलं ते न सूयति ?" ॥ २०३ ॥

"क्या तुम्हारे कान बहरे हो गये हैं ? क्या तुम्हारे नेत्र नष्ट हो गये हैं। ध्वजाओं के (लहराते) अग्र भाग तुम्हें दिखाई नहीं देते ? शोरगुल तुम्हें सुनायी नहीं दे रहा है ? ॥२०३॥"

तेसं तं वचनं सुत्वा अन्तको खलु पापिमा ।
दुक्खितो दुम्मनो तेसं सोचन्तो इदमब्रवि ॥ २०४ ॥

---

१. ० ईय-ब० ।

२. पारमिता (दे० गाथा सं० ७ की टिप्पणी)

उनके उस वचन को सुनकर पापी मार दुःखित एवं दुर्मना होकर शोक करता हुआ उनसे इस प्रकार बोला—॥२०४॥

"अहो वतातिपरिहानि संसारस्स महा अयं।
असारो खलु संसारो सिद्धत्थे विभवं गते ॥ २०५ ॥

"अहो! यह तो संसार की बहुत बड़ी क्षति है। सिद्धार्थ के ज्ञान प्राप्त कर लेने पर तो यह संसार अपनी वास्तविकता से हीन हो जाएगा ॥२०५॥

अहो! वतातिनट्ठम्हा तिवट्टं परिपूरितं।
होति भो दहना दड्ढवनं वाति अलक्खिकं॥ २०६ ॥

अहो! हमारा नाश हो गया। परिपूर्ण त्रिवर्त[1] श्रीहीन हो जाएगा। अरे! जले हुए वन की तरह सब (नष्ट) हो जाएगा ॥२०६॥

निरालोकं तिलोकं भो असारं[2] वासरं यथा।
परिमोसरतनं[3] होति रज्जं वेदं[4] जगत्तयं ॥ २०७ ॥

अरे! त्रैलोक्य[5] प्रकाशहीन दिवस की भाँति सारहीन हो जाएगा। तीनों जगत्[6] ऐसे राज्य बन जाएगे जहाँ के रत्न चुरा लिये गये हों ॥२०७॥

ममे'स विसयं हित्वा याति सिद्धत्थदारको।
तेन यातेन मग्गेन निक्खमन्ति बहुज्जना ॥ २०८ ॥

युवा सिद्धार्थ मेरे इस स्थान को छोड़कर जा रहा है। उसके द्वारा गये मार्ग से बहुत से लोग निकल जाएंगे ॥ २०८ ॥

---

१. त्रिवर्त-कार्य, क्लेश एवं विपाक (पारंडि=तिवट्ट)।
२. असुरं-सि०।
३. परिमोसरणं-ब०।
४. वायं-रो०।
५. त्रैलोक्य = काम, रूप एवं अरूप (पारंडि-तिभव)।
६. तीन जगत् = स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल (शब्दार्थ त्रिजगत्)।

भवन्तं न करोते'सो याव सुद्धोदनत्तजो।
एथ गच्छाम सिद्धत्थं असिद्धत्थं करोम भो ॥ २०९ ॥

यह सुद्धोदन-पुत्र जब तक संसार का अन्त न कर पाए तभी आओ! चलते हैं और सिद्धार्थ की असिद्धार्थ करते हैं॥ २०९ ॥

मापेथ भेरवं वण्णं बीभच्छं दुद्दसं खरं।
सद्देने'व पलापेथ तूलभट्टं व वायुना ॥ २१० ॥

भयानक, बीभत्स, दुद्दंश्य एवं कठोर रूप बनाओ। वायु के द्वारा रुई के गोले की भांति उसे शब्द से ही भगा दो॥ २१० ॥

तस्स तं वचनं सुत्वा मारसेना समागमुं।
नानावेसधरा हुत्वा नानायुद्धसमङ्गिनो ॥ २११ ॥

उसकी बातों को सुनकर मार की सेना नाना वेशों में अनेक प्रकार के युद्ध के साधनों को लेकर एकत्रित हो गई॥ २११ ॥

योजनानं तदा मारो दि-अड्ढसतमुच्चतो।
गिरिमेखलमारुह्य सेनाय सहसा'गमि ॥ २१२ ॥

तब मार ढाई सौ योजन ऊँचे गिरिमेखला[1] पर आरूढ़ हो सेना के साथ अचानक आ पहुँचा॥ २१२ ॥

दिस्वान दूरतो एन्तं देवा मारं सवाहिनिं।
भयट्टा'पागमुं खिप्पं धावमाना दिसो दिसं ॥ २१३ ॥

दूर से ही सेना सहित मार को आता देखकर देवता भयार्त होकर एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर भागते हुए शीघ्र ही दूर चले गये॥ २१३ ॥

---

१. गिरिमेखला—मार का हाथी जिसकी ऊँचाई साढ़े चार सौ मील थी। मार के कहने पर वह बुद्ध के पास तक गया किन्तु वहाँ जाकर घुटने टेक दिया॥
(मलल गिरिमेखला)

सङ्खिप्प खिप्पं सच्छत्तं ब्रह्मा धावि परम्मुखो।
कत्वान पिट्ठियं सङ्खं सक्को धावि विसङ्खितो ॥ २१४ ॥

अपने छत्र को शीघ्र समेटकर ब्रह्मा पराङ्मुख हो दौड़ पड़े। शक्र अपने शङ्ख को पीठ पर रख गिरते हुये भाग पड़े ॥ २१४ ॥

महाकालोपि नागिन्दो निमुज्ज महियं तदा।
वत्तदत्तकरो भीरु सके निपति मञ्चके ॥ २१५ ॥

नागराज महाकाल भी उस समय पृथ्वी के अन्दर डूबकर मुँह पर हाथ लगाए हुए, भयभीत हो अपने मञ्च पर जा गिरे ॥ २१५ ॥

सं सं[1] पूजाविधानन्तु छड्डेत्वान सदेवका।
गता'सुं सुञ्जकं आसि चक्कवालं इदं तदा ॥ २१६ ॥

देवतावृन्द अपनी-अपनी पूजाविधि को छोड़कर चले गये। उस समय चक्रवाल शून्य हो गया था ॥ २१६ ॥

निस्सिरीकं पदेसं तं असोभं असमञ्जसं।
अहोसि पतिता नेकपूजाभण्डसमाकुलं ॥ २१७ ॥

गिरे हुए अनेक पूजा पात्रों से व्याप्त वह स्थान श्रीहीन, शोभाहीन तथा अस्त-व्यस्त हो गया था ॥ २१७ ॥

एको'व तत्थ सुगतो निसीदि वजिरासने।
पज्जलं निजसिरिया सुरियो व युगन्धरे ॥ २१८ ॥

वहाँ एकमात्र सुगत वज्रासन पर, युगन्धर पर्वत पर देदीप्यमान सूर्य की तरह अपने तेज से प्रभास्वर हो बैठे थे ॥ २१८ ॥

अकम्पो च असन्त्रासी लोमहंसविवज्जितो।
अभीतो सीहराजा व मिगच्छापकमज्झगो[2] ॥ २१९ ॥

---

१. यं यं-रो०। २. मिगच्छापानमग्गतो।

वे मृगशावकों के बीच सिंहराज के समान निडर, अचल, अभय एवं रोमांचरहित हो बैठे थे ॥ २१९ ॥

ततो धम्मिस्सरस्सग्गे दुन्निमित्तानि जायरुं ।
अन्धकारा दिसा आसुं धूमकेतू च अम्बरे ॥ २२० ॥

इसके तत्काल बाद धर्मराज (सुगत) के आगे दुर्निमित्त उठने लगे । दिशाएं अन्धकारपूर्ण हो गईं तथा आकाश में धूमकेतु (उत्पन्न होने लगे) ॥ २२० ॥

दिनं दुद्दिनकं आसि हतरंसी दिवाकरो ।
उक्कापातो पि[1] पञ्ञायि दिसाडाहो'पपज्जथ ॥ २२१ ॥

दिन में ही अंधेरा छा गया, सूर्य हतप्रभ हो गया । उल्कापात होने लगा तथा दिशादाह भी उत्पन्न हो गया ॥ २२१ ॥

अघने गगने आसुं[2] इन्दचापा'विरज्जुति ।
अनलासनियो दित्ता तत्थ-तत्थ पतन्ति च ॥ २२२ ॥

मेघरहित आसमान में भी चमकती रेखाओं वाले इन्द्रधनुष उत्पन्न हुए तथा अग्निमय बिजलियाँ इधर-उधर गिरने लगीं ॥ २२२ ॥

काकोलसङ्घा वस्सिंसु उण्णा सकुणकोसिया[3] ।
चरिंसु अम्बरे पेता कबन्धा व भयावहा ॥ २२३ ॥

काले (डोम) कौवों का समूह, बारीक चोंच वाले पक्षी एवं उल्लू बरसने लगे । शिरविहीन शव की भाँति भयावह प्रेत आकाश में घूमने लगे ॥ २२३ ॥

सेनं[4] सविदहित्वान ततो मारो अभिद्दवि ।
आगन्त्वा चक्कवालम्हि ठितो जिनमुदिक्खिय ॥ २२४ ॥

तब अपनी सेना को व्यवस्थित कर मारने आक्रमण किया । वह आकर चक्रवाल पर खड़ा होकर जिन (बुद्ध) की ओर देखने लगा ॥ २२४ ॥

---

१. ति-ब०, २. आयुं-ब० ३. कोटिया-ब०, ४. तेसनं-ब० ।

"एककस्स मनुस्सस्स सन्तिकोपगमं[1] मम ।
न युत्तं हि गजो याति गजं नो याति कोत्थुकं ॥ २२५ ॥

एक अकेले मानव के पास मेरा जाना ठीक नहीं है, क्योंकि हाथी, हाथी के पास जाता है न कि शृगाल के पास ॥ २२५ ॥

ने'तं गरु पलापेतुं कालो' इति विचिन्तिय ।
मापेसि कुपितो खिप्पं पलयानिलसमानिलं[2] ॥ २२६ ॥

इसको भगाना कोई कठिन (काम) नहीं, अभी समय है" ऐसा सोचकर उस क्रोधी ने प्रलयकालीन वायु के समान वायु सृजन किया ॥ २२६ ॥

खिपन्तो गगने खिप्पं उद्धरित्वा वनप्पती ।
करवान वनमुम्मूलं विद्धन्सेन्तो असेसकं ॥ २२७ ॥

वनस्पतियों को शीघ्रता से उखाड़कर आकाश में फेंकता हुआ, वनों का उन्मूलन करके समूल विनाश करता हुआ ॥ २२७ ॥

चालेत्वा तालसालादिं लुञ्चित्वा गगने खिपं ।
पातेन्तो चक्कवाळन्ते वाजीसीहगजादयो ॥ २२८ ॥

ताड़ एवं शाल आदि वृक्षों को हिलाकर तथा नोचकर आकाश में फेंकता हुआ तथा घोड़ों, सिंहों एवं हाथियो आदि को मण्डल के अन्त तक गिराता हुआ ॥ २२८ ॥

पहरित्वा परिवत्तेत्वा[3] गिरिकूटानि उक्खिपं ।
भमयन्तो नभोमज्झे धावते'व ततो ततो ॥ २२९ ॥

गिरिशिखरों पर प्रहार कर उन्हें घुमाकर फेंकता हुआ तथा इस प्रकार आकाश में घुमाता हुआ जैसे वे स्वयं आकाश में इधर-उधर दौड़ रहे हों ॥ २२९ ॥

---

१. ० परमं–ब० ।

२. फलयानिल०–ब०, कप्पानिल०–सि० ।

३. परिवट्टेत्वा–ब० ।

सिलाहि सिलासङ्घट्टमहानादं पवत्तयं ।
पातेन्तो दहनञ्चा'पि धूममम्बरमुक्खिपं ॥ २३० ॥

चट्टानों के एक दूसरे से टकराने से महाघोष प्रवर्तित करता हुआ, अग्निवर्षा करता हुआ तथा धुएं को आकाश में फेंकता हुआ ॥ २३० ॥

भमयन्तो गहेत्वान अम्बरे छदनिट्ठिका[1] ।
पासादे परिवत्तेत्वा पहरन्तो नगादिसु ॥ २३१ ॥

छत के खपड़ों को लेकर आकाश में घुमाता हुआ तथा भवनों को घुमाकर पर्वतादिकों पर पटकता हुआ ॥ २३१ ॥

खनन्तो पठविं पंसुं गहेत्वा 'म्बरमण्डले ।
बन्धन्तो' व परं भूमिं भिन्दन्तो तुङ्गपब्बते ॥ २३२ ॥

पृथ्वी को खोदकर धूल को उठाकर आकाश मण्डल में दूसरी भूमि बांधता हुआ तथा ऊँचे पर्वतों का भेदन करता हुआ—॥२३२॥

भयानकेन सद्देन उपगम्म महामुनिं ।
चालेतुं नेव सो सक्खि अंसुमत्तम्पि चीवरे ॥ २३३ ॥

भयानक ध्वनि के साथ श्रेष्ठ मुनि के पास पहुँकर उनके चीवर में धागा-मात्र तक नहीं हिला सका ॥२३३॥

तदा' सि विजयो तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
पठमे मारयुद्धम्हि मारस्सा'सि पराजयो ॥ २३४ ॥

मार के साथ प्रथम युद्ध में उस समय श्रीमान् संबुद्ध की विजय एवं मार की पराजय हुई ॥२३४॥

एवं महानुभावो'ति मन्त्वान नरसारथिं ।
निच्चं वन्दथ पूजेथ सो हि वो सरणं सदा ॥ २३५ ॥

इति पठमो विजयो

इस प्रकार मनुष्य के सारथि उस सुगत को महानुभाव मानकर नित्य वन्दना एवं पूजा करो । वही तुम्हारे सदा शरण हैं ॥२३५॥

॥ प्रथम विजय समाप्त ॥

---

१. छदनिट्ठिका-ब० ।

दुतियो विजयो

दिस्वा नमुचि धीरस्स मालुतेनानुपद्दवं ।
दुक्खी च दुम्मनो आसि कोधेना' तुरमानसो ।। २३६ ।।

वायु के द्वारा धीरपुरुष को विघ्नरहित देखकर मार क्रोध से दुःखी एवं दुर्मना होकर व्याकुल चित्त हो गया ।। २३६ ।।

होतु दानि महोघेन पवाहेमि इमं यतिं[1] ।
माषेत्वान महामेघं सोचनाय अलं मम ।। २३७ ।।

अस्तु । अब मुझे शोक करने से क्या (लाभ) ? महामेघ की सृष्टि कर इस साधु को बाढ़ से बहा दूँगा ।। २३७ ।।

इति चिन्तिय सो मारो महामेघममापयि ।
दिसा' सुं पिहिता[2] सब्बा अन्धकारा अवत्थरि ।। २३८ ।।

ऐसा सोचकर मारने महामेघ का सृजन किया । सभी दिशाएँ बन्द हो गयीं तथा (चारों ओर) अँधेरा छा गया ।। २३८ ।।

उपरूपरि गुणा हुत्वा सहस्सानि सतानि पि ।
धाराधरा महाधारा वत्तयिंसु समन्तो ।। २३९ ।।

एक के ऊपर एक इस प्रकार सौ तथा हजार गुणा भी होकर महती धाराओं वाले बादल चारों तरफ छा गये ।। २३९ ।।

सोदामिनी सहस्सेहि विनद्धं व नभं अहु ।
तत्थ-तत्थ दिसाभागे इन्द्रचापा अवत्तत[3] ।। २४० ।।

---

१. पवाहेन मिभा (मं) यति–ब० ।

२. दिसासं विहिता–ब० ।

३. अवत्तयं–रो०, सिं० ।

सहस्रों बिजलियों के कारण आकाश गुँथ सा गया। चारों ओर दिशाभागों में इन्द्रधनुष उत्पन्न हो गये ॥ २४० ॥

महाराजतरज्जूहि सिब्बिता व नभावनी[1]।
धाराधरोरुधाराहि निरन्तरपवत्तिहि ॥ २४१ ॥

निरन्तर प्रवर्तित होने वाले मेघों की उत्कट धाराओं रूपी चाँदी की रस्सियों से आकाश एवं पृथ्वी सिले हुए के समान (लग रहे) थे ॥ २४१ ॥

तत्थ तत्थ पतन्तानि घोरासनिसता अहुँ।
महाभीमनभोभेरिस्सता[2] आसुं तहिं-तहिं ॥ २४२ ॥

इधर-उधर सैकड़ों भयङ्कर बिजलियाँ गिरने लगीं तथा जहाँ-तहाँ आकाश रूपी नगाड़ों के भयङ्कर स्वर थे ॥ २४२ ॥

उद्धरन्तो महासेले महोघो च तदुब्भवे।
केलाससिखराकारफेणपुञ्जे समुब्बहं ॥ २४३ ॥

बड़े-बड़े चट्टानों को उछालता हुआ एक महा-ओघ (बाढ़) उत्पन्न होकर कैलाश पर्वत के शिखरों के आकार के फेनपुञ्ज को धारण करता हुआ ॥ २४३ ॥

महाथूपप्पमाणादिमहाबुब्बुलमुब्बहं ।
गम्भीरो पुथुलो चण्डो उपगम्म जिनन्तिकं ॥ २४४ ॥

महास्तूपों के आकार के बड़े-बड़े बुलबुले बहाता हुआ गम्भीर, विस्तृत एवं भयङ्कर (ओघ) सुगत के पास पहुंचकर—॥ २४४ ॥

सरीरे लोममत्तम्पि तेमेतुमसमत्थको।
गतो महोघो बुद्धस्स' हो[3]' नुभावमहन्तता ॥ २४५ ॥

(उनके) शरीर के रोममात्र को भी गीला करने में असमर्थ हो महा-ओघ चला गया। अहो ! बुद्ध की शक्ति की महानता ॥ २४५ ॥

---

१. ०ती–ब०, २. सता–रो०, ३. भो–रो०, ब०।

तदा' सि विजयो तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
दुतियो मारयुद्धम्हि मारस्सा' सि पराजयो ।। २४६ ।।

उस समय मार के साथ द्वितीय युद्ध में श्रीमान् सम्बुद्ध की विजय एवं मार की पराजय हुई ।। २४६ ।।

एवं महानुभावो ति मत्वान नरसारथिं ।
निच्चं वन्दथ पूजेथ सो हि वो सरणं सदा ।। २४७ ।।

इति दुतियो विजयो

इस प्रकार मनुष्य के सारथि उस सुगत को महानुभाव मानकर नित्य वन्दना एवं पूजा करो । वही तुम्हारे सदा शरण हैं ।। २४७ ।।

।। द्वितीय विजय समाप्त ।।

13402

ततियो विजयो

ततो मारो असक्कोन्तो वस्सोघेन उपद्दवं।
कातुं तस्स उसूयादिकोपाकुलमनो तदा ॥ २४८ ॥

तब वर्षा की बाढ़ से बुद्ध को बाधा पहुँचाने में असमर्थ मार ईर्ष्या एवं क्रोध आदि से व्याकुलमन होकर—॥ २४८ ॥

भवत'ज्ज किमेतेन मारणे तस्स किं गरु।
इदानङ्गारवुट्ठीहि झापेमि सहसा इमं ॥ २४९ ॥

"कोई बात नहीं, अब इससे क्या लाभ? इसे मारने में क्या कठिनाई है? अभी अङ्गारवृष्टियों से इसे एकाएक जलाए देता हूँ ॥ २४९ ॥

इति चिन्तिय सो मारो मापेत्व'ङ्गारवुट्ठियो।
पेसेसि नभसा तस्स सम्बुद्धस्स उपन्तिकं ॥ २५० ॥

ऐसा सोचकर मार ने अङ्गारवर्षा उत्पन्न कर आकाश-मार्ग से उसे सम्बुद्ध के पास भेजा ॥ २५० ॥

महापब्बतसङ्कासजलितङ्गाररासयो।
धाविंसु नभसा तत्थ अच्चिमन्तो महब्भया ॥ २५१ ॥

बड़े पर्वत के समान प्रज्ज्वलित अङ्गाराशियाँ चमकती हुई भयङ्कर स्थिति में वहाँ आकाश-मार्ग से दौड़ने लगीं ॥ २५१ ॥

चिच्चिटायनसद्देहि पूरयन्तो दिसन्तरं।
धूपायन्तो फुलिङ्गेहि मारस्सा पि भयावहा ॥ २५२ ॥

'चट-चट' शब्दों से दिशाओं को भरती हुई तथा चिनगारियों से जलती हुई मार के लिए भी भयानक—॥ २५२ ॥

उज्जालेन्तो महारुक्खे पब्बते पि च सम्मुखे।
नरकोदरु'ग्गता अग्गिरासीवातिभयावहा ॥ २५३ ॥

बड़े-बड़े वृक्षों एवं समक्ष विद्यमान पर्वतों को जलाती हुई तथा नरक के मध्य उठी हुई अग्नि के समान भयावह—॥ २५३ ॥

उपगन्त्वा मुहुत्तेन निसिन्नं मुनिपुङ्गवं ।
मधुमत्तालिझङ्कारनादाकुलदिसामुखा ॥ २५४ ॥

(अग्निराशियाँ) क्षर भर में ही आसनासीन मुनि श्रेष्ठ के पास पहुँचकर, मधु से प्रमत्त भ्रमरों के झङ्कारनाद से दिशान्तों को व्याप्त कर—॥ २५४ ॥

पातेन्ति सततामन्दमकरन्दजविन्दवो ।
मालावतंसका हुत्वा पादमूले पतिंसु ता ॥ २५५ ॥

अनवरत अधिकाधिक मकरन्द से उत्पन्न बिन्दुओं के रूप में गिरने लगीं। वे सभी फूलों का हार बनकर मुनि के चरण-मूल में गिरने लगीं ॥ २५५ ॥

तदा'सि विजयो तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
ततिये मारयुद्धम्हि मारस्सा'सि पराजयो ॥ २५६ ॥

उस समय मार के साथ तीसरे युद्ध में श्रीमान् सम्बुद्ध की विजय एवं मार की पराजय हुई ॥ २५६ ॥

एवं महानुभावो'ति मत्वान नरसारथिं ।
निच्चं वन्दथ पूजेथ सो हि वो सरणं सदा ॥ २५७ ॥

इति ततियो विजयो

इस प्रकार मनुष्यों के सारथि उस सुगत को महानुभाव मानकर नित्य वन्दना एवं पूजा करो। वही तुम्हारे सदा शरण है ॥ २५७ ॥

॥ तृतीय विजय समाप्त ॥

चतुत्थी विजयो

तेनानुपद्दुतं बुद्धं पस्सित्वान पजापति ।
दुक्खितो दुम्मनो हुत्वा एवं चिन्तेसि दुम्मति ॥ २५८ ॥

उस (अङ्गारवृष्टि) से बुद्ध को निर्विघ्न देखकर दुर्बुद्धि प्रजापति (मार) दुःखित एवं दुर्मना होकर इस प्रकार सोचने लगा ॥ २५८ ॥

"पासाणवस्सं मापेत्वा चुण्णेत्वा पनिमं यतिं ।
विद्धंसेमो"ति चिन्तेत्वा मापेसुपलवस्सकं ॥ २५९ ॥

"पाषाणवर्षा की सृष्टि कर निश्चय ही इस साधु को चूर्णित कर विनष्ट कर डालूँगा"—ऐसा सोचकर वह उपलवृष्टि करने लगा ॥ २५९ ॥

तस्मिं वस्से'तिबीभच्छा धूमायन्ता सजोजिका ।
जलितङ्गारसङ्कासा पासाणु'च्चवचा बहु ॥ २६० ॥

उस वृष्टि में अत्यन्त बीभत्स धूम एवं ज्योति फैलाते हुए जलते अङ्गारों के समान बहुत से छोटे-बड़े पत्थर ॥ २६० ॥

करान'ञ्ञोञ्ञसङ्घट्टमहन्तं भेरवं रवं ।
दुद्दिनं धूमजालाहि कुरुमाना समन्ततो ॥ २६१ ॥

परस्पर टक्कर से भयङ्कर आवाज करते हुए तथा धूमसमूहों से चारों तरफ दुर्दिन (वर्षाकालिक समय) बनाते हुए ॥ २६१ ॥

सत्थूपगन्त्वा'भिमुखं सन्तमालागुला विय ।
पतिंसु सिरिपादे ते अमन्दामोदवाहिनो ॥ २६२ ॥

शास्ता के समीप जाकर उनके समक्ष आनन्दप्रद स्वच्छ पुष्पगुच्छों के समान उनके श्री चरणों पर गिरने लगे ॥ २६२ ॥

तदा'सि विजयो तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
चतुत्थे मारयुद्धम्हि मारस्सा'सि पराजयो ।। २६३ ।।

उस समय मार के साथ चतुर्थ युद्ध में श्रीमान् सम्बुद्ध की विजय एवं मार की पराजय थी ।। २६३ ।।

एवं महानुभावो'ति मन्त्वान नरसारथिं ।
निच्चं वन्दथ पूजेथ सो हि वो सरणं सदा ।। २६४ ।।

इति चतुत्थो विजयो ।

इस प्रकार मनुष्यों के सारथि उस सुगत को महाशय मानकर नित्य वन्दना एवं पूजा करो । वही तुम्हारे सदा शरण हैं ।। २६४ ।।

।। चतुर्थ विजय समाप्त ।।

पञ्चमो विजयो

दिस्वान ततो[1] मारो दित्तो कोधग्गिना तदा।
मापेत्वायुधवस्सं सो पेसेसि तदुपन्तिकं ॥ २६५ ॥

इसके अनन्तर उसे देखकर क्रोधाग्नि से जलते हुए मार ने तब आयुधवृष्टि की सृष्टि कर बुद्ध के पास भेजा ॥ २६५ ॥

नेत्तिसच्छुरिकासत्तिभेण्डिवालगदादयो ।
तिण्हधारा च[2] जलिता[2] अचिरज्जुतिसन्निभा ॥ २६६ ॥

तीक्ष्णधार वाले तलवार, छुरे, कटार, भाले, गदा आदि बिजली की भाँति चमकते हुए ॥ २६६ ॥

यथा पुप्फोपहारोपगन्त्वान गगनङ्गना ।
एवं सम्बुद्धपादेसु पतिंसु परिवत्तिता ॥ २६७ ॥

(बुद्ध के) समीप जाकर आकाश-प्राङ्गण से पुष्पों के हार के समान परिवर्तित होकर सम्बुद्ध के चरणों में गिरने लगे ॥ २६७ ॥

तदा'सि विजयो तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
पञ्चमे मारयुद्धम्हि मारस्सा'सि पराजयो ॥ २६८ ॥

उस समय मार के साथ पाँचवें युद्ध में श्रीमान् सम्बुद्ध की विजय एवं मार की पराजय हुई ॥ २६८ ॥

एवं महानुभावो'ति मन्त्वान नरसारथिं ।
निच्चं वन्दथ पूजेथ सो हि वो सरणं सदा ॥ २६९ ॥

इति पञ्चमो विजयो

इस प्रकार मनुष्यों के सारथि उस सुगत को महाशय मानकर नित्य वन्दना एवं पूजा करो। वही तुम्हारे सदा शरण हैं ॥ २६९ ॥

॥ पञ्चम विजय समाप्त ॥

---

१. दिस्वानत्तमनो–सिं०, २-२. पज्जलिता–सिं० ।

छट्ठो विजयो

तं दिस्वा पापिमा खुद्दो 'यं यं तस्स करोम' हं ।
तं तं दानि न सक्कोति किञ्चि कातुं उपक्कमं ।। २७० ।।

उसे देखकर पापी एवं क्षुद्र (–मति) मार "मैं जो-जो करता हूँ वह सब कुछ अब उसका कुछ भी विघ्न नहीं कर पा रहा है" ।। २७० ।।

मापेसि कुक्कुलं वस्सं 'मारेमी 'त' धुना मुनिं ।
सो 'गा' कासा समादित्तो धूमायन्तो' व पज्जलं ।। २७१ ।।

अब मैं इस ऋषि को मार डालूँगा ऐसा सोचकर उसने गर्म राख की वृष्टि का सृजन किया । वह (वह राखवृष्टि) प्रदीप्त एवं ज्वलनशील तथा धूमायित होकर आकाश से— ।। २७१ ।।

जिनस्साभिमुखं गन्त्वा कुक्कुलो परिवत्तिय ।
चन्दनस्स सितब्भस्स धूली हुत्वान पग्घरि ।। २७२ ।।

जिनके अभिमुख जाकर परिवर्तित होती हुई चन्दन एवं कपूर के चूर्ण के समान फैल गई ।। २७२ ।।

तदा'सि विजयो तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
छट्ठे नमुचियुद्धम्हि मारस्सा'सि पराजयो ।। २७३ ।।

उस समय मार के साथ छठे युद्ध में श्रीमान् सम्बुद्ध की विजय एवं मार की पराजय हुई ।। २७३ ।।

एवं महानुभावो'ति मन्त्वान नरसारथिं ।
निच्चं वन्दथ पूजेथ सो हि वो सरणं सदा ।। २७४ ।।

इति छट्ठो विजयो

इस प्रकार मनुष्यों के सारथि उस सुगत को महाशय मानकर नित्य वन्दना एवं पूजा करो । वही तुम्हारे सदा शरण हैं ।। २७४ ।।

।। षष्ठ विजय समाप्त ।।

सत्तमो विजयो

ततो दिस्वान तं कण्हो कण्हसेनापुरक्खतो ।
सङ्कुद्धो पेसयी तत्थ वस्सं सो सिकतामयं ।। २७५ ।।

तब उसे देखकर दुष्ट सेना द्वारा अनुगत दुष्ट मार क्रोधित होकर बालुओं की वृष्टि करने लगा ।। २७५ ।।

खदिरङ्गारसङ्कासा बालुका गगनागता ।
भस्सन्ता जिनपादन्ते वासचुण्णत्तमागता ।। २७६ ।।

बबूल के अङ्गार के समान आकाश से आई बालुकाएं विजयी के चरणों में गिरती हुई सुगन्धित चूर्ण के रूप में परिवर्तित हो गईं ।। २७६ ।।

तदा 'सि विजयो तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
सत्तमे मारयुद्धह्मि मारस्सा'सि पराजयो ।। २७७ ।।

उस समय मार के साथ सातवें युद्ध में श्रीमान् सम्बुद्ध की विजय एवं मार की पराजय हुई ।। २७७ ।।

एवं महानुभावो'ति मन्त्वान नरसारथिं ।
निच्चं वन्दथ पूजेथ सो हि वो सरणं सदा ।। २७८ ।।

इति सत्तमो विजयो

इस प्रकार मनुष्यों के सारथि उस सुगत को महाशय मानकर नित्य वन्दना एवं पूजा करो । वही तुम्हारे सदा शरण है ।। २७८ ।।

।। सप्तम विजय समाप्त ।।

अट्ठमो विजयो

तम्पि दिस्वा असज्जन्तो अहिरी कोपकेतुको ।
"मापेत्वा पलिप'न्दानि तत्थ ओसादयामि तं" ॥ २७९ ॥

उसे भी देखकर निर्लज्ज एवं क्रोधी मार बिना किसी हिचक के 'अब दल-दल बनाकर' उसी में डूबा दूँगा ॥ २७९ ॥

इति चिन्तिय मापेत्वा पेसेसि पल्ललं[1] घनं ।
धूमायन्तो[2] पज्जलन्तो गन्त्वा सो नभसा लहु ॥ २८० ॥

ऐसा सोचकर घना (कीचड़मय) सरोवर बनाकर भेजा वह शीघ्र ही धूमायित एवं प्रज्ज्वलित होता हुआ आकाश मार्ग से जाकर—॥ २८० ॥

सम्बुद्धसिरिपादह्मि सम्पत्तो निब्बुतो ततो ।
नानासुगन्धसम्भूतगन्धकद्दमतं गतो ॥ २८१ ॥

सम्बुद्ध के श्री चरणों को पाकर बुझ गया तथा नाना प्रकार की सुगन्धियों से उत्पन्न सुगन्धित कीचड़ बन गया ॥ २८१ ॥

तदा'सि विजयो तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
अट्ठमे मारयुद्धह्मि मारस्सा'सि पराजयो ॥ २८२ ॥

उस समय मार के साथ आठवें युद्ध में श्रीमान् सम्बुद्ध की विजय एवं मार की पराजय हुई ॥ २८२ ॥

एवं महानुभावो'ति मन्त्वान नरसारथिं ।
निच्चं वन्दथ पूजेथ सो हि वो सरणं सदा ॥ २८३ ॥

इति अट्ठमो विजयो

इस प्रकार मनुष्यों के सारथि उस सुगत को महाशय मानकर नित्य वन्दना एवं पूजा करो । वही तुम्हारे सदा शरण है ॥ २८३ ॥

॥ अष्टम विजय समाप्त ॥

---

१. पालियं—सिं० । २. धूपायन्तो—सिं०, ब०, रो० ।

नवमो विजयो

ओलोकेन्तो ततो मारो मारारिं सिरियु'ज्जलं ।
दिस्वा चित्तं पसादेतुं असक्कोन्तो 'ति कोपवा ।। २८४ ।।

उस समय मारशत्रु (बुद्ध) को शोभा से देदीप्यमान देखकर क्रोधी मार चित्त को प्रसन्न नहीं कर पाता हुआ—।। २८४ ।।

'अज्जे' तं अन्धकारस्मिं पक्खिपित्वा पमोहितुं ।
मह्यं भारो' ति चिन्तेत्वा मापेसि तिमिरं घनं ।।२८५ ।।

"आज इसे अन्धकार में डालकर घबराहट में डाल देने का भार मुझ पर है" ऐसा सोचकर उसने घने अंधेरे का सृजन किया ।। २८५ ।।

लोकन्तरेसु सम्भूततिमिसो व महावहो ।
गन्त्वान गगना सो हि पत्वान मुनिसन्तिकं ।। २८६ ।।

दो लोकों के बीच विद्यमान अन्धकार की भाँति भयावह वह (अन्धकार) आकाश से जाकर मुनि के समीप पहुँच कर—।। २८६ ।।

यथा तिमिरमायाति विनासं सुरियुग्गते ।
एवं आसि जिनग्गह्मि अन्धकारो तथाविधो ।। २८७ ।।

जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अन्धकार नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार तथाविध अन्धकार जिन (विजयी) के आगे (नष्ट) हो गया ।। २८७ ।।

तदा'सि विजयो तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
नवमे मारयुद्धह्मि मारस्सा'सि पराजयो ।। २८८ ।।

उस समय मार के साथ नवें युद्ध में श्रीमान् सम्बुद्ध की विजय एवं मार की पराजय हुई ।। २८८ ।।

एवं महानुभावो'ति मन्त्वान नरसारथिं ।
निच्चं वन्दथ पूजेथ सो हि वो सरणं सदा ॥ २८९ ॥

इति नवमो विजयो

इस प्रकार मनुष्यों के सारथी सुगत को महाशय मानकर नित्य वन्दना एवं पूजा करो। वही तुम्हारे सदा शरण है ॥ २८९ ॥

॥ नवम विजय समाप्त ॥

दसमो विजयो

एवं नवहि वुट्ठीहि कत्वा मारो महाहवं।
न तस्सोपद्दवं दिस्वा दित्तकोपानलाकुलो ॥ २९० ॥

इस प्रकार नौ प्रकार की वृष्टियों से महायुद्ध करके भी बुद्ध के लिए किसी प्रकार का उपद्रव न देखकर प्रज्ज्वलित क्रोधाग्नि से व्याकुल मार—॥ २९० ॥

गहेत्वान ततो खिप्पं ठपितं अत्तगुत्तिया।
चक्कायुधं महातेजं कुपितो खिपि वेगसा ॥ २९१ ॥

शीघ्र ही अपने सुरक्षार्थ रखे हुए महातेजस्वी चक्रायुध को क्रोध वश तेजी से फेंका ॥ २९१ ॥

धराधरं तं उग्गह्य कुद्धो पहरते यदि।
कलीरं व ससज्जन्तो विखण्डेति पजापति ॥ २९२ ॥

यदि मार उसे उठाकर पर्वत पर प्रहार करता तो निःसन्देह उसे कोमल निशाने के तरह विखण्डित कर देता ॥ २९२ ॥

तथे' व सो महिं कुद्धो मारो खिपति वेगसा।
न भवन्तो' सधा पाणा विसुस्सन्ति सरादयो ॥ २९३ ॥

इसी प्रकार क्रोधी मार यदि उसे वेग से पृथ्वी पर फेंकता तो वनस्पतियाँ एवं प्राणी न होते। तालाब आदि सूख जाते ॥ २९३ ॥

तथे'व कुपितो तेन खिपते सो महम्बुधिं।
विलयं जलजा यन्ति सुस्सते सो महण्णवो ॥ २९४ ॥

उसी तरह यदि वह क्रुद्ध होकर महासागर में फेंकता तो सारे जलचर (प्राणी) नष्ट हो जाते और महासागर सूख जाता ॥ २९४ ॥

एवं महानुभावो सो गच्छन्तो जलमम्बरे।
पत्वान पतितो नाथ हुत्वान पुप्फचुम्बटं ॥ २९५ ॥

इस प्रकार महान् शक्तिशाली वह चक्रायुध आकाश में प्रज्ज्वलित होता हुआ स्वामी को प्राप्त कर पुष्पहार होकर गिरा ॥ २९५ ॥

तदा'सि विजयो तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
दसमे मारयुद्धम्हि मारस्सा'सि पराजयो ॥ २९६ ॥

उस समय मार के साथ दसवें युद्ध में श्रीमान् सम्बुद्ध की विजय एवं मार की पराजय हुई ॥ २९६ ॥

एवं महानुभावो'ति मन्त्वान नरसारथिं ।
निच्चं वन्दथ पूजथ सो हि वो सरणं सदा ॥ २९७ ॥

इति दसमो विजयो

इस प्रकार मनुष्यों के सारथि उस तथागत को महानुभाव मानकर नित्य वन्दना एवं पूजा करो। वही तुम्हारे सदा शरण हैं ॥ २९७ ॥

॥ दशम विजय समाप्त ॥

एकादसमो विजयो

इति कोपग्गिना दित्तमनं मारं तदा जिनो ।
करुणाजलसेकेन निब्बापेन्तो निसीदि सो ॥ २९८ ॥

इस प्रकार क्रोधाग्नि से जलते हुए मन वाले मार को करुणा रूपी जल से सींचते हुए विजयी वहीं बैठे रहे ॥ २९८ ॥

एवं कत्वा पि सो कुद्धो अलद्धविजयो तदा ।
आमन्तेसि सकं सेनं पलयानलभेरवं ॥ २९९ ॥

ऐसा करने पर भी उस क्रोधी एवं अप्राप्तविजय मार ने तब प्रलयाग्नि के समान भयङ्कर अपनी सेना को बुलाया ॥ २९९ ॥

एथासु वत रे मह्यं अस्सवा मारकिङ्करा ।
नानावेसधरा होथ धरेथ विविधायुधे ॥ ३०० ॥

ऐ मेरे निष्ठावान् अनुचरो ! शीघ्र आओ । नाना वेशधारी बनो और अनेक प्रकार के आयुधों को धारण करो (उठाओ) ॥ ३०० ॥

सद्देहे'तं पलापेथ याथ गण्हथ बन्धथ ।
पादे गहेत्वा खिपथ चक्कवाळन्तरं इतो ॥ ३०१ ॥

इसको (भयङ्कर) आवाजों से भगा दो, जाओ, पकड़ो, बाँध लो और पैरों को पकड़कर यहाँ से दूसरे चक्रवाल (शिखर) तक फेंक दो ॥ ३०१ ॥

अथागा सह वाचाहि भिंसा सा मारवाहिनी ।
तुरङ्गब्यग्घमातङ्गसीहरूपादिभिंसना[1] ॥ ३०२ ॥

तब घोड़े, व्याघ्र, हाथी, सिंह आदि के रूपों से भयानक वह मारसेना शोरगुल के साथ पहुँची ॥ ३०२ ॥

---

१. सीहादिरूप–सिं० ।

सा मारस्सुभतो पस्से चतुवीसतियोजने ।
ठिता पच्छिमभागम्हि चक्कवाळसिलावधिं ।। ३०३ ।।

वह (सेना) मार के दोनों तरफ चौबीस योजन में तथा पीछे की ओर चक्रवाल शिखर पर्यन्त खड़ी हो गई ।। ३०३ ।।

बहलत्तेन सा आसि सम्पुण्णनवयोजना ।
यक्खपेतपिसाचादिवेसेहि भयवाहिनी ।। ३०४ ।।

वह सेना विस्तार में पूरे नव योजन तथा यक्ष, प्रेत, पिशाचों आदि के वेश से भयानक थी ।। ३०४ ।।

संवट्टवातसम्पातखुभितम्बुधिनो विय ।
उल्लोलभीमघोसो तु गतो ब्रह्मपुरावधिं ।। ३०५ ।।

प्रलयकालीन हवाओं के आघात से क्षुब्ध सागर के समान तेज एवं भयङ्कर घोष ब्रह्मपुरी तक (फैल) गया ।। ३०५ ।।

दन्तसङ्घट्टसञ्जातजालामालासमाकुला ।
तेस'ङ्गारा'व दित्ता'सुं कोधुम्मीलितलोचना ।। ३०६ ।।

उन (सेनाओं) में दांतों के कटकटाने से उत्पन्न ज्वालासमूहों से व्याप्त (सैनिकों के) क्रोध से खुली आँखे अङ्गारों के समान प्रज्ज्वलित थीं ।। ३०६ ।।

वहन्ति धूमक्खन्धानि मुखकोटरकोटिहि ।
नीहटा नीहटा जिह्वा सुभीमोरगतं गता ।। ३०७ ।।

(वे सेनाएं) करोड़ों मुखकोटरों से धूमराशि वहन कर रहीं थीं । (उनकी) बाहर की ओर आती, लपलपाती जिह्वाएँ भयङ्कर सर्पत्व को प्राप्त हो गयी थीं ।। ३०७ ।।

उद्धरित्वान तालादो[1] करित्वान सरासने ।
भुजङ्गे च गुणे केचि गाळ्हं आकड्ढयन्ति च ।। ३०८ ।।

---

१. दि–ब० ।

(उनमें से) कुछ ताड़ आदि (वृक्षों) को उखाड़कर उनसे धनुष बनाकर सर्पों के तीर लगाकर बड़ी दृढ़ता से खींचते थे ॥ ३०८ ॥

पुण्डरीकच्छसीहादी खिपन्ताभिमुखे तदा ।
धावन्ते'के समुग्गह्य पुरतो दित्तपब्बते ॥ ३०९ ॥

चीतों, भालुओं तथा सिंहों आदि को (मुनि के) सम्मुख फेंकते हुए कुछ सेवक उस समय प्रज्ज्वलित पर्वतों को उठाकर आगे दौड़ रहे थे ॥ ३०९ ॥

भयानकानि नेकानि सीसाने'ककलेवरे ।
मापयित्वान पुरतो धावन्ति केचि किङ्करा ॥ ३१० ॥

कुछ सेवक एक शरीर पर अनेक भयानक शिरों का निर्माण कर सामने दौड़ रहे थे ॥ ३१० ॥

सीसेन सीहसङ्कासा गत्तेन मनुजोपमा ।
बुद्धस्साभिमुखं केचि धावन्ति मारकिङ्करा ॥ ३११ ॥

कुछ मार-सेवक सिर से सिंह जैसे किन्तु शरीर से मनुष्य जैसे (बनकर) बुद्ध के समक्ष दौड़ रहे थे ॥ ३११ ॥

कण्ठीखाकारदेहा मुखेन खलु रक्खसा ।
हुत्वान अभिधावन्ति केचि मारस्स किङ्करा ॥ ३१२ ॥

मार के कुछ सेवक शरीर से सिंह किन्तु मुख से राक्षस होकर दौड़ रहे थे ॥ ३१२ ॥

दण्डमानवका सीसभागेनातिभयावहा[1] ।
गत्तेन रक्खसा हुत्वा केचि धावन्ति किङ्करा ॥ ३१३ ॥

शिरोभाग से अत्यन्त भयावह तथा शरीर से राक्षस बनकर कुछ सेवक असाधारी [2](दण्डधारी) के समान दौड़ रहे थे ॥ ३१३ ॥

---

१. वहं–ब० । २. असाधारी = दण्डमाणवक (शब्दार्थ० दण्डमाणवक) ।

दीपच्छेभतुरङ्गानं ब्यग्घखग्गविसाणिनं ।
वराहमहिसादीनं कण्णपावुरभोगिनं[१] ॥ ३१४ ॥

सिंह, भालू, हाथी, घोड़ा, चीता, गेंडा, सूअर, भैंसा, उल्लू एवं सर्पों के— ॥ ३१४ ॥

सीहाकारमहासीसे तब्बिरुद्धे कलेवरे ।
मापेत्वा अभिधावन्ति केचि मारस्स किङ्करा ॥ ३१५ ॥

सिंहाकार बड़े सिर पर (इसी प्रकार अन्य के) विपरीत शरीरों का निर्माण कर कुछ मारसेवक दौड़ रहे थे ॥ ३१५ ॥

आकड्ढेन्ता कपोलानं करसाखाहि सम्मुखे ।
दस्सयन्ता महादाठं केचे'न्ति मारकिङ्करा ॥ ३१६ ॥

अपनी अंगुलियों से कपोलों (गालों) को बाहर खींचते हुए तथा बड़े दांतों को दिखाते हुए कुछ मारानुचर (बुद्ध के समक्ष) आ रहे थे ॥ ३१६ ॥

तिखिणग्गनखा केचि फालयन्ता सकोदरे ।
अन्ते गले पिलन्धित्वा धावन्ति किङ्करा'परे ॥ ३१७ ॥

दूसरे मारसेवक अपने तीक्ष्ण अग्रनखों से अपने उदर को फाड़ते हुए तथा आंतों को गले में बाँधते हुये दौड़ रहे थे ॥ ३१७ ॥

गिलन्ता केचि फणिनो उग्गिरन्ता तथे'व च ।
सीसकन्धरकण्णन्तबाहु-अंगुलि-आदिसु ॥ ३१८ ॥

(कुछ सेवक) सर्पों को निगलते एवं पुनः सिर, कन्धों, कानों, बाहुओं एवं अंगुलियों पर वमन कर रहे थे ॥ ३१८ ॥

सकलेसु सरीरेसु विसधूमग्गिसङ्कुले ।
धारेन्तासिविसे केचि धावन्त्यग्गे भयावहा[२] ॥ ३१९ ॥

---

१. पवुत०–ब ।

२. धावग्गे भयवहा ब० ।

(कुछ सेवक) सम्पूर्ण शरीर पर विषमय धूम एवं अग्नि से व्याप्त विषयुक्त खड्ग धारण कर भयावह हो आगे-आगे दौड़ रहे थे ॥ ३१९ ॥

पदित्तायोगुले गह्य खिपन्ते'के अनेकधा ।
दित्तपब्बतमुद्धच्च केचि अग्गिकपालके ।
खिपन्ता अभिधावन्ति दट्ठोट्ठा भीमलोचना ॥ ३२० ॥

कुछ (सेवक) प्रदीप्त लोह गोलक लेकर अनेक प्रकार से फेंक रहे थे । जलते हुए पर्वत को उठाकर अग्निमय कपालों पर फेंकते हुए तथा ओंठों को काटते हुए भयङ्कर नेत्र वाले कुछ (मारसेवक) दौड़ रहे थे ॥ ३२० ॥

लालयन्ता सका जिह्वा खन्धे कत्वान मुग्गरे ।
मत्तब्भमरवेसेन[1] धावन्ति अपरे भटा ॥ ३२१ ॥

दूसरे योद्धा अपनी जिह्वा को लपलपाते हुए तथा मुद्गरों को कन्धो पर रखकर मतवाले लम्पट की भाँति दौड़ रहे थे ॥ ३२१ ॥

पिबन्ता लोहिता ने'के खादन्ता पिसिता परे ।
पिसाचा[2] व चरिं केचि मुनिराजस्स अग्गतो ॥ ३२२ ॥

कुछ रक्त पीते हुए दूसरे मांस खाते हुए तथा कुछ पिशाचों के समान मुनि-श्रेष्ठ के आगे घूमने लगे ॥ ३२२ ॥

उल्लङ्घन्ता च सेलेन्ता धावन्ता जलितायुधा ।
भीमवेसधरा यक्खा केचे'न्ति भकुटीमुखा ॥ ३२३ ॥

लांघते चिल्लाते एवं ज्वलनशील हथियारों के साथ दौड़ते हुए, चढ़ी भौंहों वाले मुख से युक्त, भयङ्कर वेशधारी कुछ यक्ष आने लगे ॥ ३२३ ॥

पणुण्णसरवस्सेहि कुन्ततोमरवुट्ठिहि ।
भेण्डिवालासिचक्केहि निब्भरा'सि दिगन्तरं ॥ ३२४ ॥

प्रक्षिप्त बाणों की वर्षा से, बरछी-भालों की वृष्टि से तथा तीर, तलवार एवं चक्रों से दिशाएं पूर्ण थीं ॥ ३२४ ॥

---

१. बम्मर–ब०, मत्तभुजङ्ग–सिं० । २. पिसाची–ब० ।

यं द्दिट्ठसुतमत्तेन मरणं चित्तबिब्भमं ।
याति लोको कथं को तं निस्सेसं भासते नरो ।। ३२५ ।।

जिसको देखने या सुनने मात्र से प्राणी मृत्यु या चित्तविक्षेप को प्राप्त हो जाते हैं, उसका सम्पूर्ण रूप से कौन पुरुष वर्णन कर सकता है ॥ ३२५ ॥

नेकदन्तसहस्सेहि निक्खन्तग्गिसिखायुतं ।
दाननिज्झरसम्पातं भीमगज्जनगज्जितं ।। ३२६ ।।

हजारों दांतों से निकलती हुई अग्निशिखाओं से युक्त मदजल के धाराप्रवाह एवं भयङ्कर गर्जना से गर्जित ।। ३२६ ।।

नेकसतकरग्गेहि धतायोलगुळादिकं ।
सन्नद्धं[1] कवचादीहि गिरिं व गिरिमेखलं ।। ३२७ ।।

अनेक सौ अंगुलियों से धारण किये गये लौह गोलक आदि से युक्त तथा पर्वत की तरह गिरमेखला नामक हाथी से युक्त एवं कवचादिकों से सन्नद्ध ॥ ३२७ ॥

आरुळ्हो पापिमा तत्थ उस्सापेत्वा जयद्धजं ।
विसालावत्तदाठग्गो विपिटग्गभग्गनासिको ।। ३२८ ।।

उस (हाथी) पर बैठा हुआ तथा विजयपताका को उठाया हुआ, पापी, विशाल आवर्त (भँवर) के समान दाढ़ वाला एवं क्षीण अग्रभाग से युक्त टूटी नाक वाला ॥ ३२८ ॥

दट्ठोट्ठभीमवदनो भकुटीवलिललाटको ।
कोधानलेहि सन्दिद्धमहक्खो तम्बदाठिको ।। ३२९ ।।

ओठों को काटने से भयङ्कर मुखवाला, भृकुटी के कारण सिकुड़े ललाट वाला, क्रोधाग्नियों से चकाचौंधयुक्त, महानेत्रधारी एवं ताम्र वर्ण की दाढ़ी वाला ।। ३२९ ॥

नीलपब्बतसङ्कासविसमङ्गो महोदरो ।
गोनसोरगसप्पादि-अङ्गीकतसुभिसनो ।। ३३० ।।

---

१. नद्ध—ब० ।

काले पर्वत के समान शरीर वाला, बड़े पेट वाला, गोनसों[1] नागों एवं सर्पों आदि को धारण करने से भयङ्कर ॥ ३३० ॥

सहस्सबाहुं मापेत्वा छूरिका यट्ठि सत्ति च ।
कोदण्डचण्डवाणे[2] च चक्ककुन्तगदादियो ॥ ३३१ ॥

हजारों बाहुओं का निर्माण कर, छुरिका, लाठी, भाला, धनुष, भयङ्कर बाण, चक्र, बरछा गदा आदि ॥ ३३१ ॥

सङ्कुवेतालिकाफरसुपासमुग्गरअङ्कुसे ।
गहेत्वा कणयञ्चाथ तिसूलवजिरायुधे ॥ ३३२ ॥

शूली, चोंचनुमा कांटे, फरसे, जाल, मुद्गर, अङ्कुश तथा छोटे भाले एवं वज्रायुध को लेकर ॥ ३३२ ॥

परिवत्तेसि आकासे तेसं अञ्ञोञ्ञघट्टना ।
उग्गतेहि फुलिङ्गेहि धावन्तेहि समन्ततो ॥ ३३३ ॥

(इस प्रकार हथियारों से सज्जित) मार ने आकाश में उनको परस्पर टकरा दिया । तब चारों तरफ उड़ती एवं भागती चिनगारियों से ॥ ३३३ ॥

अग्गिचक्कपरीतं व कुरुमानो निजं तनुं ।
आवहन्तो भयं ब्रह्मसुरसिद्धादिनं तदा ।
समारसेनो सो मारो भगवन्तमुपागमि ॥ ३३४ ॥

अग्निचक्र से घिरे हुए के समान अपने शरीर को बनाता हुआ, ब्रह्मा, देवताओं, सिद्धों आदि के लिए भय उत्पन्न करता हुआ, अपनी सेना के साथ मार भगवान् के पास पहुँचा ॥ ३३४ ॥

उदयाचलकूटम्हि भासन्तो व पभाकरो ।
सुप्पतिट्ठिमेरु ' व तिकुटाचलमुद्धनि ॥ ३३५ ॥

१. गोनस—एक विशेष प्रकार की नाग-जाति, जिनकी नाक गाय की नाक के समान होती है । (अमर० १।८।४)

२. ०बानो–ब० ।

उदयाचल पर्वत पर प्रकाशमान् सूर्य की भाँति, त्रिकूट पर्वत के शिखर पर सुप्रतिष्ठित मेरु पर्वत की तरह ॥ ३३५ ॥

कत्वान पिट्ठितो बोधिं भूरुहं वजिरासने ।
निसिन्नो भगवा ' तीव निच्चलो अतिरोचति ॥ ३३६ ॥

बोधिवृक्ष की ओर पीठ करके वज्रासन पर निश्चल बैठे हुए तथागत अत्यन्त रुचिकर थे ॥ ३३६ ॥

अकम्पो सो मुनी एवं अग्गे ' कासि निजं बलं ।
सम्मप्पधानसंयुत्तो दयामेत्तामहेसिको ॥ ३३७ ॥

चार सम्यक्प्रधानों[1] से युक्त, दया एवं मैत्री के कारण महर्षि उस निश्चल मुनि ने इस प्रकार अपनी सेना को आगे किया ॥ ३३७ ॥

चतुबुद्धभूमिसङ्खातजयभूमिमुदिक्खिय ।
चतुसङ्गहवत्थूनं योजेत्वा द्वारकोट्ठके ॥ ३३८ ॥

चार बुद्धभूमियों की गणना से विजया भूमि का अवलोकन कर द्वार पर चार संग्रह वस्तुओं[2] को लगाकर ॥ ३३८ ॥

योजेत्वान थिरं तत्थ सद्धादिबलकोट्ठके ।
सतिपट्ठानपाकारे अभेज्जिन्द्रिय-गोपुरे ॥ ३३९ ॥

श्रद्धा आदि बलों के किले को अभेद्य इन्द्रियों रूपी नगर में स्मृति प्रस्थानों[3] की चहारदीवारी के अन्दर स्थिर कर ॥ ३३९ ॥

---

१. चार सम्यक्प्रधान—अनुत्पन्न अकुशल धर्मों को उत्पन्न न होने देना, उत्पन्न अकुशल धर्मों का प्रहाण करना, अनुत्पन्न कुशल धर्मों को उत्पन्न करना तथा उत्पन्न कुशल धर्मों को बढ़ाना । (पटि० २५०)

२. चार संग्रहवस्तु—दान, दयापूर्ण वचन, दयापूर्ण कृत्य तथा समान व्यवहार (मलल—संगहसुत्त)

३. चार स्मृतिप्रस्थान—कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना ।

थिरञाणायुधाकिण्णो मेत्तासन्नाहवम्मितो ।
अभीतभारतीभूरिभेरिसङ्खपुरक्खतो ॥ ३४० ॥

स्थिरज्ञानरूपी आयुध से युक्त, मैत्री रूपी कवच से कवचित तथा अभय वाणी रूपी प्रचुर भेरियों एवं शङ्खों के साथ आगे होकर ॥ ३४० ॥

चतुरङ्गविरियुत्तुङ्गमातङ्गक्खन्धसङ्गतो ।
पुञ्ञसम्भारभारेन कम्पयं वसुधातलं ॥ ३४१ ॥

चतुरङ्गिक वीर्य[1] रूपी ऊँचे हाथी के कन्धे पर चढ़कर पुण्य सम्भार[2] के भार से पृथ्वीतल को कम्पित करते हुए ॥ ३४१ ॥

चरियत्तयसङ्खात[3] मुस्सापितजयद्धजो ।
एवं विधाय मारारी मारसङ्गाममण्डलं ॥ ३४२ ॥

त्रिचर्या[4] नामक विजयध्वज को उठाये हुए मारशत्रु ने इस प्रकार मारयुद्ध के हेतु मण्डल बनाकर ॥ ३४२ ॥

दानादयो महायोधे आहूय सहजातके ।
'सुणाथ भो गिरं मह्यं भवत' ज्ज महाहवो ॥ ३४३ ॥

(तथा) उसी समय उपस्थित दान आदि महायोद्धाओं को बुलाकर कहा—"ऐ ! मेरी बात सुनो । आज महायुद्ध हो रहा है ॥ ३४३ ॥

एथ याथ समग्ग'त्थ न ओस्सक्कथ युज्झथ[5] ।
विजेतुं मारयुद्धम्हि न सक्का सेसजन्तुहि ॥ ३४४ ॥

---

१. चतुरङ्गिक वीर्य—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा इन पांच बलों में से एक के आधार पर शेष चार एक रस होते हैं । (पटि० ३३)

२. पुण्यसम्भार—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य तथा ध्यान इन पाँच पारमिताओं की पूर्ति पुण्य सम्भार है ।

३. चरित–ब०, सिं० ।

४. त्रिचर्या—विज्ञानचर्या, अज्ञानचर्या तथा ज्ञानचर्या । (पटि० ८८)

५. युज्जथ–ब०, सिं० ।

जाओ ! एक हो जाओ ! पीछे मत हटो ! युद्ध करो ! मार के साथ युद्ध में जीतने हेतु मात्र जीवधारी समर्थ नहीं हैं ॥ ३४४ ॥

अज्ज गच्छति निट्ठानं सो भो पारमिता भटा[1] ।
सहुस्साहा ममग्गम्हि दस्सेथ विरियं सकं ॥ ३४५ ॥

पारमिता वीरों ! आज युद्ध समाप्त हो रहा है। उत्साहपूर्वक मुझसे पहले ही अपने पराक्रम का प्रदर्शन करो" ॥ ३४५ ॥

अथ दानभटो आह[2] अप्फोटं दिगुणं भुजं ।
'पस्स दानि महावीर ! बलं मे मारधंसने ॥ ३४६ ॥

तब दानरूपी वीर ने अपनी दोनों भुजाओं से झपटते हुए कहा—"महावीर ! अब मार के विनाश में मेरी शक्ति देखिए ॥ ३४६ ॥

परमत्थपारमी योद्धं तथे' व उपपारमिं ।
उभो पस्से करित्वान ससेनो धावि दप्पवा ॥ ३४७ ॥

(इस प्रकार दान वीर) परमार्थपारमिता[3] तथा उपपारमिता[4] रूपी योद्धाओं को दोनों बगल में करके गर्वित हो सेना के साथ दौड़ पड़ा ॥ ३४७ ॥

तथे' व सीलनामद्धो पारमीभट-मु-त्तमो ।
निक्खम्म सह सेनाय मारसेनमभिद्दवि[5] ॥ ३४८ ॥

उसी प्रकार शील नामक उत्तम पारमी वीर सेना सहित निकलकर मार की सेना पर टूट पड़ा ॥ ३४८ ॥

तथा नेक्खम्मनामो पि सन्नद्धो सभटो भटो ।
मारसेनामिगे हन्तुं धावि दीपी व साहसो ॥ ३४९ ॥

---

१. भवा–ब० । २. आग–सिं० ।

३-४. परमत्थ पारमी, उपपारमी—बाह्य वस्तुओं के दान आदि से पारमी, शारीरिक अङ्गों के दान आदि से उपपारमी तथा जीवन के दान आदि से परमत्थपारमी की पूर्ति होती हैं । (बु० अ० १०२)

५. ०सेनामभि०–ब ।

उसी तरह नैष्क्रम्य नामक (पारमी) वीर भी सेना सहित मार सेना रूपी मृग को मारने हेतु साहसी चीते की भाँति दौड़ पड़ा ॥ ३४९ ॥

पञ्ञायोधो पि गच्छन्तो साटोपो धावि दप्पवा ।
मार-मेरुमहं अज्ज ससेनु'म्मूलयामि ति ॥ ३५० ॥

प्रज्ञा (पारमी) वीर भी स्वाभिमान एवं गर्व के साथ "मार-सेनारूपी मेरु को "मैं आज जड़ से उखाड़ दूँगा" ऐसा विचार कर दौड़ पड़ा ॥ ३५० ॥

विरियपारमितायोधो दट्ठोट्ठो भीमगज्जनो ।
सोसेमि मम तेजेन वदं' गा मारसागरं ॥ ३५१ ॥

वीर्य पारमिता रूपी योद्धा ओठों को काटता हुआ भयङ्कर गर्जना के साथ "अपने तेज से मैं मार रूपी सागर को सुखा दूँगा" ऐसा बोलता हुआ आ पहुँचा ॥ ३५१ ॥

खन्तिसच्चद्वया चे' व ततो' धिट्ठानको भटो ।
आसु धाविंसु पातेतुं[1] मारस्स मकरध्दजं ॥ ३५२ ॥

(इसी प्रकार) क्षान्ति, सत्य तथा अधिष्ठान नामक (पारमिता) वीर मार के मकरध्वज[2] को गिराने हेतु शीघ्र दौड़ पड़े ॥ ३५२ ॥

मेत्तानामो महायोधो 'मारो मह्यमल'न्ति' गा ।
उपेक्खको पि सो योधो मारसेनं पदालितुं ॥ ३५३ ॥

मैत्री नामक महायोद्धा "मार बस मेरे भर का है" ऐसा मानकर तथा इसी प्रकार उपेक्षा वीर भी मार-सेना का विध्वंस करने चल पड़ा ॥ ३५३ ॥

पेसेत्वे' वं जिनो सेनं' सरीरं दळ्हविक्कमं ।
निसीदि तस्स तेजेन निरुस्साहा' सि सा[3] चमू ॥ ३५४ ॥

इस प्रकार अपनी अशरीरी तथा दृढ़पराक्रमी सेना को भेज कर विजयी बैठे रहे । उनके तेज से (मार की) वह सेना निरुत्साह हो गयी थी ॥ ३५४ ॥

---

१. पोतेतुं–ब० ।

२. मकरध्वज—कामदेव (मलल० मकरध्दज)

३. या–ब० ।

अहो भो विम्हयं दानि सुणाथ मुनिनो मम ।
जेति एको निसिन्नो' व समारं मारवाहिनिं ॥ ३५५ ॥

(वे आपस में वार्तालाप करने लगे)—अरे ! मुनि के विषय में आश्चर्य-जनक मेरी बात सुनो । वह अकेला बैठा हुआ ही मार सहित मारसेना को जीत रहा है ॥ ३५५ ॥

कोपानलेन सन्दित्तं[1] दुट्ठं रुट्ठं पजापतिं ।
अदुट्ठो जेति सम्बुद्धो आनुभावो हि तादिसो ॥ ३५६ ॥

क्रोधाग्नि से जलते हुए, दुष्ट, क्रोधी मार को अदूषित सम्बुद्ध जीत रहा है। यह उसकी महानता है ॥ ३५६ ॥

दित्तायुधे खिपन्ते पि विज्झन्ते वसवत्तिनि[2] ।
निरायुधो' व[3] तं जेति आनुभावो हि तादिसो ॥ ३५७ ॥

प्रज्ज्वलित एवं वशवर्ती आयुधों के फेंकने एवं बेधने पर भी वह हथियार के विना ही उसे जीत रहा है। यह उसकी महानता है ॥ ३५७ ॥

सहाटोपं सहङ्कारं मारं साडम्बरं तदा ।
निच्चलो जेति सम्बुद्धो आनुभावो हि तादिसो ॥ ३५८ ॥

क्रोध, अहंकार एवं आडम्बर के साथ (विद्यमान) मार को निश्चल सम्बुद्ध जीत रहा है। यह उसकी महानता है ॥ ३५८ ॥

हत्थस्सरथपत्तीहि धावन्तं तं इतो चि' तो ।
निसिन्नो व जिनो जेति आनुभावो हि तादिसो ॥ ३५९ ॥

हाथी, घोड़े, रथों एवं पदातियों (पैदल सेनाओं) से इधर-उधर भागते हुए (मार) को जिन बैठे हुए ही जीत रहा है। यह उसकी महानता है ॥ ३५९ ॥

भासन्तं नेकधा कण्णकठोरगिरमन्तकं ।
निस्सद्दो जेति सम्बुद्धो आनुभावो हि तादिसो ॥ ३६० ॥

---

१. ०दित्त–ब० । २. ०नां–ब० । ३. च–ब० ।

अनेक प्रकार से कर्णकटु वाणी बोलने वाले मार को निःशब्द सम्बुद्ध जीत रहा है। यह उसकी महानता है ॥ ३६० ॥

मारो' पागम्म अट्ठासि लङ्घितुं असमत्थको ।
बुद्धतेजग्गिपाकारं दित्तमब्भुग्गतं थिरं ॥ ३६१ ॥

तब मार प्रज्ज्वलित, ऊपर उठती हुई तथा स्थिर बुद्ध के तेज रूपी अग्नि के प्राकार के पास जाकर उसे लाँघने में असमर्थ होकर ॥ ३६१ ॥

तदा' ह नमुची कुद्धो भुजमुक्खिप्प-मी-दिसं ।
'खिप्पं सिद्धत्थ ! हे ! गच्छ सन्तकेदं[1] ममासनं ॥ ३६२ ॥

क्रोधित हो भुजाओं को ऊपर भाँजते हुए ऐसा बोला—हे सिद्धार्थ ! तुम शीघ्र ही मेरे इस आसन को छोड़कर भाग जाओ ॥ ३६२ ॥

नो चे गच्छसि ते हृदयं फालेमि नखसत्तिहि ।
विचुण्णेमि तुवं पादे गहेत्वा पठवीतले ॥ ३६३ ॥

यदि नहीं जाओगे तो (अपने) नखों रूपी भालों से तुम्हारे हृदय को विदीर्ण कर दूँगा, तुम्हारे पैरों को पकड़कर पृथ्वीतल पर चूर्ण-चूर्ण कर दूँगा ॥ ३६३ ॥

पस्स मे महतिं सेनं पस्स आयुधसञ्चयं ।
तेन तं अभिमद्दामि तुवटं गच्छ इदं[2] मम ॥ ३६४ ॥

मेरी महती सेना को देखो, आयुधसंग्रह को देखो, उससे मैं तुम्हें कुचल डालूँगा। चले जाओ, यह (आसन) मेरा है ॥ ३६४ ॥

अथ 'स्स वचनं सुत्वा जिनाऽह मधुरं गिरं[3] ।
'कदा ते पूरिता मार पलङ्क' ट्ठाय पारमी ॥ ३६५ ॥

तब उसकी बात सुनकर जिन ने मधुर वचन में कहा—"अरे मार ! इस पर्यङ्क के लिए तुमने पारमिता की पूर्ति कब की ॥ ३६५ ॥

१. सन्तकोऽयं–ब०, सिं० ।
२. गच्छितं–ब० ३. मधुरङ्गिरो–रो०, ब० ।

कदा अदासि सीसादिदानं सीलं कथं तव ।
तदत्थाय कथापेहि के ते पच्चक्खकारका ॥ ३६६ ॥

तुमने कब सिर आदि का दान किया ? तुम्हारा शील कैसा है ? बताओ, उसके लिये तुम्हारे पास साक्षी कौन हैं ? ॥ ३६६ ॥

अथा'ह फरुसो मारो ने' तं गरु मने मय ।
इमा[1] सा परिसा सभा तस्स पच्चक्खकारका ॥ ३६७ ॥

तब कठोर मार बोला—'यह मेरे लिये कठिन नहीं है। यह वह परिषद् या सभा है जो उसके लिए साक्षी है ॥ ३६७ ॥

उग्घोसेसि महासेना 'सक्खी' हन्ति विसुं-विसुं ।
पठवुद्रियनमत्तो[2] व ततो कोलाहलो अहु ॥ ३६८ ॥

तब वह महासेना अलग-अलग उद्घोष करने लगी कि "मैं साक्षी हूँ, मैं साक्षी हूँ।" उस समय पृथ्वी को विदीर्ण करने भर का शोरगुल हुआ ॥ ३६८ ॥

अथाह[3] मारो समण अहं सक्खी कथापयिं ।
तव को सक्खी यज्जत्थि कथापेहि लहुं मम ॥ ३६९ ॥

मार ने फिर कहा—"श्रमण ! मैंने तो साक्षी प्रस्तुत कर दिया। तुम्हारे पास यदि कोई साक्षी हैं तो शीघ्र मुझे बताओ ॥ ३६९ ॥

अथा'ह भगवा तस्स गम्भीरं मधुरं गिरं ।
निच्छारेन्तो मयूरस्स सुनादं फणिनो यथा ॥ ३७० ॥

तब भगवान् ने उससे गम्भीर वचन में उसी प्रकार कहा जैसे सर्प के लिए मयूर की आवाज निकाल रहे हो ॥ ३७० ॥

---

१. अयं–रो० सिं० इमे–ब० ।

२. भूमुद्रियनमत्तोमत्तो'व–सिं ।

३. आहु–सिं० ।

तवे'व मे न सन्तीध पच्चक्खत्तं सचेतना।
अचेतना' व मे दानि सन्ति पच्चक्खवादिनो ॥ ३७१ ॥

तुम्हारे जैसे चेतन साक्षी मेरे पास नहीं है। मेरे प्रत्यक्षवादी तो अचेतन ही हैं ॥ ३७१ ॥

इति वत्वान मारारी सञ्झाजीमूतगब्भतो।
निक्खन्तविज्जुसङ्कासं करं चामीकरज्जुतिं ॥ ३७२ ॥

इस प्रकार कहकर मारशत्रु ने सान्ध्य बादलों से निकलती बिजली के समान स्वर्णिम तेज वाले अपने हाथ को ॥ ३७२ ॥

रत्तचीवरगब्भम्हा नीहरित्वा जिनो तदा।
धरण्यभिमुखं' कासि उद्दिस्स भूमिकामिनिं ॥ ३७३ ॥

लाल चीवर के मध्य से निकाल कर भूमिकामिनी को लक्ष्य बनाकर पृथ्वी की ओर किया ॥ ३७३ ॥

दानमानादिकम्मे मे कम्पन्ती जातिजातियं।
किमज्ज निस्सणा' सी' ति जिनो वाचमुदाहरि ॥ ३७४ ॥

तथागत ने इस प्रकार कहा—"मेरे जन्म-जन्मान्तर में मेरे दान-मान आदि कर्मों पर काँपती हुई तुम आज चुप क्यों हो ? ॥ ३७४ ॥

'सक्खी' ह'न्ति वदन्ती व ततो भूमिवरङ्गना।
सलिलावनिपरियन्ता गज्जन्ती नच्चि तावदे ॥ ३७५ ॥

"मैं साक्षी हूँ" इस प्रकार बोलती हुई सी पृथ्वी रूपी श्रेष्ठ कामीनी गर्जना करती हुई समुद्र पर्यन्त नाचने लगी ॥ ३७५ ॥

मही[1] सागरउम्मी व उट्ठापेन्ति महूमियो।
छद्धा[2] कम्पि कुलालस्स चक्कं वातिपरिब्भमि ॥ ३७६ ॥

---

१. महिं–सिं०।
२. 'छदा"–ब०।

समुद्र की लहरों के समान ऊँची लहरें उठाती हुई पृथ्वी छः बार काँप उठी तथा कुम्हार के चक्र की भाँति अत्यन्त परिभ्रमण करने लगी ॥ ३७६ ॥

हिमवा गिरिराजा च युगन्धरनगादयो ।
कूटबाहा समुक्खिप्प नच्चिंसु नटका विय ॥ ३७७ ॥

गिरिराज हिमवान् एवं युगन्धर आदि पर्वत अपने शिखर रूपी बाहों को फेंक-फेंक कर नट की भाँति नाचने लगे ॥ ३७७ ॥

दिस्वा सुत्वा तमच्छेरं भयेनुब्बिग्गमानसा ।
मारसेना पभिन्ना'सि भिन्नवेलो 'व सागरो ॥ ३७८ ॥

उस आश्चर्य को देख और सुनकर भय से व्याकुल मन वाली मार सेना टूटे किनारों वाले समुद्र की भाँति बिखर गई ॥ ३७८ ॥

भयेन' ट्टस्सरा भन्ता पतन्त'ञ्ञोञ्ञघट्टना ।
विकिरित्वा[1] कचे पिट्ठे धाविंसु मारकिङ्करा ॥ ३७९ ॥

भय के कारण चिल्लाते हुए भ्रमित एवं अन्योन्य टकराहट से गिरते हुए मारसेवक पीठ पर बालों को फेंकते हुए दौड़ पड़े ॥ ३७९ ॥

गहितायुधानि छड्डेन्ता पिदहन्ताननं करा ।
निवत्थवत्थमत्ते पि धाविंसु अनपेक्खका ॥ ३८० ॥

पकड़े हुए हथियारों को छोड़कर हाथ से मुख को ढकते हुए उदासीन (सेवक) निर्वस्त्र या वस्त्रमात्र में दौड़ पड़े ॥ ३८० ॥

अङ्गुलियो मुखे केचि पक्खिपन्ति रुदन्ति च ।
केचि वदन्ति याचेन्ति अभयं सामि देहि नो ॥ ३८१ ॥

कुछ अंगुलियों को मुँह में डालकर रो रहे थे। कुछ वन्दना एवं याचना कर रहे थे कि—"स्वामी हमें अभय दो" ॥ ३८१ ॥

---

१. ० त्वान—ब० ।

सिद्धत्थो'यं जितो किन्नु निस्सासारुद्धभासना ।
पिट्ठिपस्सं उदिक्खन्ता धाविंसु चकिता परे ।। ३८२ ।।

गहरीं सांस से जिनका बोलना रुक गया है, ऐसे दूसरे (लोग) "यह सिद्धार्थ जीत गया है क्या' ऐसा सोचकर पीछे-पीठ दिखाते हुए भागने लगे ।। ३८२ ।।

गिरिमेखलो पि नागिन्दो जन्नुकेन पती तदा ।
मारो पि पतितो खिप्पं धावितो'दस्सनं गतो ।। ३८३ ।।

हस्तिराज गिरिमेखल भी घुटनों के बल गिर पड़ा। मार भी शीघ्र ही गिरता एवं भागता हुआ लुप्त हो गया ।। ३८३ ।।

तं खणे उग्गतो आसि सत्थुकित्तिजयद्धजो ।
आह्वेन्तो व सुरादीनं ब्रह्मलोकावधिं गतो ।। ३८४ ।।

उस समय शास्ता की कीर्ति एवं विजय का ध्वज उदित होकर मानों देवादिकों का आवाहन करता हुआ सा ब्रह्मलोक तक जा पहुँचा ।। ३८४ ।।

तदा 'सि विजयो तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
चरिमे मारयुद्धम्हि मारस्सा'सि पराजयो ।। ३८५ ।।

उस समय मार के साथ अन्तिम युद्ध में श्रीमान् सम्बुद्ध की विजय एवं मार की पराजथ हुई ।। ३८५ ।।

एवं महानुभावो ति मन्त्वान नरसारथिं ।
निच्चं वन्दथ पूजेथ सो हि वो सरणं सदा ।। ३८६ ।।

इति एकादशमो विजयो

इस प्रकार मनुष्यों के सारथि उस सुगत को महानुभाव मानकर नित्य वन्दना एवं पूजा करो । वही तुम्हारे सदा के शरण हैं ।। ३८६ ।।

।। ग्यारहवां विजय समाप्त ।।

लद्धाभिविजये बुद्धे निसिन्ने वजिरासने ।
परिवारयुं गतागम्म पुरे विय सुरादयो ॥ ३८७ ॥

विजय को प्राप्त हुए वज्रासन पर आसीन बुद्ध को वहाँ से गए हुए देवता आदि ने पूर्ववत् आकर घेर लिया ॥ ३८७ ॥

देवा ते निखिला नेत्वा[1] नानापूजाविधिं ततो ।
सन्तुट्ठा मुनिनो 'कासुं महन्तं जयमङ्गलं ॥ ३८८ ॥

उन सम्पूर्ण देवताओं ने विविध प्रकार के पूजाविधानों को लेकर सन्तुष्ट हो मुनि के लिए महान् उत्सव किया ॥ ३८८ ॥

सम्पत्ता'थ निसाकन्ता मानेतुं'व मुनिस्सरं ।
पुब्बापरम्बरे लग्गससी-ण-क्कण्णभूसना ॥ ३८९ ॥

तब पूर्व पश्चिम आकाश रूपी कानों में चन्द्र और सूर्य का आभूषण पहने रात्रि कामिनी मानों ऋषिराज की पूजा करने आ पहुंची ॥ ३८९ ॥

सुनीलाकासधम्मिल्ले धत्ततारालिमालिका ।
वीजेन्ती'व दिसावाहा फुल्लचूतकचामरे ॥ ३९० ॥

वह नीले आकाश रूपी जूड़े में तारापंक्ति रूपी माला को धारण कर, दिशा-रूपी हाथों से पुष्पित आम्ररूपी चँवर को डुलाती हुई सी (आ पहुंची) ॥ ३९० ॥

मल्लिकामुकुलासत्तसम्मत्तालिगणा[2] तदा ।
धम्मेन्ता विय सङ्खानि कूजेन्ति मधुरं गिरं ॥ ३९१ ॥

---

१. नीत्वा–सिं० ।

२. ०मुकुले सत्त०–ब० ।

चमेली की कली में आसक्त मत्त भ्रमर उस समय इस प्रकार मधुर वाणी में गुँजन कर रहे थे, मानों शङ्ख बजा रहे हों ॥ ३९१ ॥

सामोदमकरन्देहि मन्दमन्दानिलागता ।
सजुण्हा जिनबिम्बम्हि उतुं गाहेन्ति सीतलं ॥ ३९२ ॥

सुगन्धित मकरन्दों के साथ मन्द-मन्द चाँदनीयुक्त वायु ने तथागत के शरीर पर शीतल स्नान कराया ॥ ३९२ ॥

अविज्जादिमहामूलं तिवट्टत्थिरखन्धकं ।
संसारविसरुक्खं सो आराधुम्मूलितुं तदा ॥ ३९३ ॥

तब उन्होंने अविद्या के मूल से युक्त, त्रिवर्त रूपी स्थिर शाखाओं वाले संसार रूपी विषवृक्ष को जड़ से उखाड़ना प्रारम्भ किया ॥ ३९३ ॥

भावेन्तो पुरिमे यामे सरन्तो खन्धसन्ततिं ।
पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणं लद्धा नरिस्सरो ॥ ३९४ ॥

(रात्रि के) प्रथम प्रहर में स्कन्धसन्तति का स्मरण करते हुए नर श्रेष्ठ ने 'पुब्बेनिवासानुस्सति ञाण'[1] प्राप्त किया ॥ ३९४ ॥

तथा मज्झिमयामम्हि दिब्बचक्खुविसोधिता ।
चुतूपपातञाणञ्च[2] अधिगन्त्वान सब्बसो ॥ ३९५ ॥

रात्रि के मध्य प्रहर में अपने दिव्य चक्षु द्वारा च्युति एवं उत्पत्ति के ज्ञान अर्थात् 'चुतूपपातञाणं'[3] को प्राप्त कर ॥ ३९५ ॥

---

१. 'पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणं—का अर्थ है—पूर्व के अनेक कल्पों तक के जन्मों का स्मरण कर प्रत्येक जन्म के प्रत्येक क्रिया-कलापों को स्मरण करना ।

२. चुतुप्पात०—ब० ।

३. चुतूपपातञाण—दिव्य चक्षु ज्ञान को कहते हैं । जो साधक इसे प्राप्त करना चाहता है उसे चतुर्थ ध्यान से उठकर प्राणियों की च्युति एवं उत्पाद को जानने हेतु चित्तावर्जन करने पर दिव्य चक्षु प्राप्त हो जाता है ।

रत्तिया पच्छिमे यामे चिन्तयन्तो जरादयो ।
विपस्सित्वा नामरूपे आरोपेत्वा तिलक्खणं ॥ ३९६ ॥

रात्रि के अन्तिम प्रहर में जरा आदि का चिन्तन करते हुए नामरूप का अवलोकन कर उसमें त्रिलक्षण[1] का आरोपण कर ॥ ३९६ ॥

सम्मसन्तो किलेसेहि विवेचेत्वा सकं मनं ।
आसवानं खये ञाणं[2] लद्धा अग्गफलं तदा ॥ ३९७ ॥

ध्यान करते हुए तथा क्लेशों से अपने मन को अलग करके आश्रवों के क्षयज्ञान रूपी श्रेष्ठ फल को प्राप्त कर ॥ ३९७ ॥

पत्वा निब्बाननगरं बोज्झङ्गरतनिस्सरो ।
सद्धम्मराजा हुत्वान पीतिवाचं उदाहरि ॥ ३९८ ॥

निर्वाण नगर को प्राप्त कर, बोध्यङ्ग[3] रूपी रत्नों के स्वामी, सद्धर्मराज बन कर इस प्रकार प्रीतिवाक्य उदाहृत किया ॥ ३९८ ॥

'अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं ।
गहकारं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥ ३९९ ॥

(शरीररूपी) गृह के निर्माणकर्ता[4] को खोजता हुआ मैं अनेक जन्मों तक संसार में लगातार दौड़ता रहा । बार-बार जन्म लेना दुःख है ॥ ३९९ ॥

गहकारक, दिट्ठो'सि पुन गेहं न काहसि ।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं ।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥ †४०० ॥

---

१. त्रिलक्षण—अनित्य, अनात्म, दुःख ।

२. ञानं–ब०, ञाणा–सिं०, रो० ।

३. सात बोध्यङ्ग—स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि समाधि और उपेक्षा (कथा० १४९-५०, दीघ० ३७९) ।

४. गृहकारक—तृष्णा, जो पुनर्जन्म का कारण बनती है । (पाइंडि-गहकारक)

†. दे०—धम्मपद—गाथा १५३-५४ ।

ऐ! घर के निर्माणकर्ता! मैंने तुम्हें देख लिया है। फिर से घर को नहीं बना पाओगे। तुम्हारी सभी धरनें[1] टूट गयी हैं। घर का स्तम्भ[2] बिखर गया है। संस्कारों से रहित मेरा चित्त तृष्णा के क्षय को प्राप्त हो चुका है ॥ ४०० ॥

इच्चेवमग्गमतदानविधिप्पवीण[3] — ।
कारुञ्ञपुञ्ञहदयेन महोदयेन ॥
पत्वा भवण्णवमपारमनन्तदुक्खं ।
येनोचिता परमपारमिता जिनेन ॥ ४०१ ॥

इस प्रकार श्रेष्ठ अमृत (ज्ञान) के दान में प्रवीण तथा करुणा एवं पुण्य से परिपूर्ण हृदय वाले, महाशय, विजयी ने अपार और अनन्त दुःख वाले भवसागर को प्राप्त कर श्रेष्ठ पारमिताओं का अभ्यास किया ॥ ४०१ ॥

येन'व[4] सब्बविभवं पणुदित्व रज्जं ।
निक्खम्म पत्व चलपत्तमहोरुहस्स[5] ॥
मूले निसज्ज सबलं पबलं च मारं ।
पापारयो च विजिता स ददातु सन्ति ॥ ४०२ ॥

इति अभिञ्ञाकथा ॥

जिसने सभी वैभवों से युक्त राज्य का त्याग कर, अभिनिष्क्रमण कर कम्पायमान पत्तों वाले वृक्ष के मूल में बैठकर सेना सहित प्रबल मार को जीत लिया, ऐसा पापों का शत्रु (आप सबको) शान्ति प्रदान करे ॥ ४०२ ॥

अभिज्ञा कथा समाप्त ॥

---

१. धरनें—काम तृष्णा ।

२. स्तम्भ—अविद्या ।

३. ०वीणा-ब० ।

४. यो चे' व-ब० ।

५. चलपत्तं-ब० ।

अभिसम्बोधिकथा

तिलोकनाथो सुगतो ततो तदा।
उदानवाचं समुदाहरित्वा॥
पल्लङ्कमाभुज्ज[1] दुमिन्दमूले।
चिन्तेसि एवं वजिरासनम्हि॥ ४०३॥

त्रैलोक्य के स्वामी सुगत ने उदानवाणी को उदाहृत कर वृक्षराज के मूल में वज्रासन पर पर्यङ्क पालथी मार कर इस प्रकार विचार किया॥ ४०३॥

दानादयो पारमिता चिनित्वा।
असङ्ख्कप्पानि च खेपयित्वा॥
अस्से'व पल्लङ्कवरस्स हेतु।
सन्धावितं तं भजितं मय'ज्ज॥ ४०४॥

दानादि पारमिताओं का संचय करके असंख्य कल्पों को बिताकर इसी श्रेष्ठ पर्यङ्क के लिए दौड़ता रहा। आज मैंने इसका सेवन कर लिया॥ ४०४॥

'याव'स्सु पुण्णा मम चेतनायो।
तावे'त्थ अच्छामि न वुट्ठहामि॥
मन्त्वान सो नेकसहस्ससङ्खा।
जिनो समापत्ति वलञ्जि तत्थ॥ ४०५॥

"जब तक मेरी चेतनाएँ पूर्ण हैं तब तक मैं यहीं बैठूँगा, नहीं उठूंगा" ऐसा मानकर विजयी ने कई सहस्र उपलब्धियों को प्राप्त किया॥ ४०५॥

देवातिदेवो तिभवेकनाथो।
हतावकासो जितपञ्चमारो॥
पितामहादीहि महीयमानो।
खेपेसि सत्था दिवसानि सत्त॥ ४०६॥

इति पठमो सत्ताहो

१. अस्स-सिं०।

देवताओं में श्रेष्ठ, तीनों लोकों के एकमात्र स्वामी, (जन्म के) सभी अवसरों का अन्त करने वाले, पाँच मारों[1] को जीतने वाले शास्ता ने पितामह आदि के द्वारा पूजित होते हुए सात दिन बिताए ॥ ४०६ ॥

प्रथम सप्ताह समाप्त।

यस्मासनं नेव जहाति तस्मा।
तिसन्धियुत्तेन निसीदिते' व ॥
अज्जापि कत्तब्बमनेन अत्थि।
देवानमिच्चा'सि मनम्हि कङ्खा ॥ ४०७ ॥

चूँकि यह आसन को नहीं छोड़ रहा है, इसलिए तीन सन्धियों[2] से युक्त होने के कारण यहाँ बैठकर ही इसे कुछ करना है" इस प्रकार देवताओं के मन में शङ्का होने लगी ॥ ४०७ ॥

तेसं मनं खो मनसा विदित्वा।
विनोदनत्थं विमति'न्तु तेसं ॥
उट्ठाय तम्हा नभमुप्पतित्वा।
दस्सेसि तेसं मुनि पाटिहेरं ॥ ४०८ ॥

उनके मन को अपने चित्त द्वारा जानकर मुनि ने उनकी विमति को दूर करने हेतु वहाँ से उठकर आकाश में उड़कर ऋद्धि का प्रदर्शन किया ॥ ४०८ ॥

विनोदयित्वा सुगतो तदे'वं।
सुधासिनं [3]चेतसि कङ्खरासिं ॥
पल्लङ्कतो उत्तरपुब्बकण्णं।
आकासतो'रुह्य जलं रवी' व ॥ ४०९ ॥

इस प्रकार सुधाभोगी देवताओं के मन में (विद्यमान) शङ्काओं को दूर कर सुगत ने पर्यङ्क से उत्तर-पूर्व कोने में आकाश मार्ग से प्रकाशमान सूर्य के समान चढ़कर ॥ ४०९ ॥

---

१. पाँच मार—स्कन्ध, क्लेश, अभिसंस्कार, मृत्यु एवं देवपुत्र (मलल-मार)।

२. त्रिसन्धि-कर्म, क्लेश एवं भव (पाइंडि-तिसन्धि)।

३. सुद्धासितं—ब०।

जिनो दुमिन्दस्स च आसनस्स ।
बहूपकारत्तमनुस्सरन्तो ॥
ठितो पदं किञ्चि अकोपयन्तो ।
इतो चितो लोकनमुज्जहन्तो ॥ ४१० ॥

वृक्षराज (बोधि) एवं उस आसन की बहूपकारिता का स्मरण करते हुए, विजयी ने पैर को थोड़ा भी नहीं हिलाते हुए, तथा इधर-उधर दृष्टि नहीं फैलाते हुए, (अर्थात् दृष्टि को एकत्र कर) ॥ ४१० ॥

नीलायतक्खामलकन्तितोय- ।
धारानिपातेन दुमिन्दराजं ॥
निसिञ्चमानो दिवसानि सत्त ।
पूजेसि तं[1] नीमिसलोचनेहि ॥ ४११ ॥

नीले एवं विशाल नेत्र रूपी स्वच्छ जल की धारा की वृष्टि से वृक्षराज को सात दिनों तक सींचते हुए निर्निमेष नेत्रों के साथ उसकी पूजा करते रहे ॥ ४११ ॥

अज्जापि तस्मिं धरणिप्पदेसे ।
कतस्स थूपस्स तदेव नामं ॥
अहोसि देवा च नरोरगा च ।
महेन्ति ते तेन दिवं पयन्ति ॥ ४१२ ॥

इति दुतियो सत्ताहो

आज भी उस भूभाग पर निर्मित स्तूप का वही (निर्निमेष) नाम है। देवता, मनुष्य तथा नाग उसकी पूजा करते हैं, तथा उसी के फलस्वरूप स्वर्ग को जाते हैं ॥ ४१२ ॥

द्वितीय सप्ताह समाप्त।

देवा ततो देववरस्य तस्स ।
सुचङ्कमं कंसु मणीहि नाना ॥

---

१. त अनिमिस–ब० ।

पल्लङ्कतो ठानवरस्स मज्झे ।
पुब्बापरासायनमन्तराले ॥ ४१३ ॥

तब देवताओं ने उस श्रेष्ठ देव के पर्यङ्क (आसन) से लेकर उस स्थान के बीच नाना मणियों से पूर्व एवं पश्चिम के बीच प्रदक्षिणा की ॥ ४१३ ॥

नरिन्दनागिन्दसुरिन्दपूजितो ।
छब्बण्णरंसीहि समुज्जलन्तो ॥
नीलम्बरे तारकिको ससीव ।
सो चङ्कमी सत्त अहानि तत्थ ॥ ४१४ ॥

राजाओं, नागराजाओं तथा देवताओं से पूजित एवं छः वर्णों की (तेजोमयी) किरणों से प्रकाशित होते हुए, नीले आकाश में तारागणों के बीच चन्द्रमा की भाँति वहीं सात दिनों तक चंक्रमण किया ॥ ४१४ ॥

अज्जापि तस्मिं धरणिप्पदेसे ।
कतस्स थूपस्स तदेव नामं ॥
अहोसि देवा च नरोरगा च ।
महेन्ति ते तेन दिवं पयन्ति ॥ ४१५ ॥

इति ततियो सत्ताहो ।

आज भी उस भूभाग पर निर्मित स्तूप का वही (चङ्क्रमण) नाम है । देवता, मनुष्य एवं नाग उसकी पूजा करते हैं तथा उसी (पूजा फल) से स्वर्ग को प्राप्त करते हैं ॥ ४१५ ॥

तृतीय सप्ताह समाप्त ।

ततो दुमिन्दस्स सुरासुरिन्दा ।
महीतले पच्छिम-उत्तरायं ॥
मापिंसु नानारतनालयग्गं ।
निसज्ज पल्लङ्कवरे तहिं सो ॥ ४१६ ॥

तब देवताओं और इन्द्र ने वृक्षराज के पश्चिमोत्तर दिशा में पृथ्वीतल पर नाना प्रकार के रत्नों से श्रेष्ठ घर का निर्माण किया । उसमें श्रेष्ठ आसन पर बैठ कर उस (मुनि) ने ॥ ४१६ ॥

सुदुद्दसागाढमपारपारं ।
समन्तपट्ठानतरङ्गभङ्गि[1] ॥
धम्मोदधिं ञाण-सुमेरुमन्था ।
सालोलयं खेपि दिनानि[2] सत्त ॥ ४१७ ॥

गम्भीर, दुर्लक्ष्य, अपरम्पार एवं चारों तरफ प्रस्थान (आरम्भ स्थान) रूपी तरंगों की भङ्गिमाओं वाले धर्मरूपी समुद्र का अपने ज्ञान रूपी सुमेरु से मन्थन करते हुए सात दिन बिताए ॥ ४१७ ॥

अज्जापि तस्मिं धरणिप्पदेसे ।
कतस्स थूपस्स तदेव नामं ॥
अहोसि देवा च नरोरगा च ।
महेन्ति ते तेन दिवं पयन्ति ॥ ४१८ ॥

इति चतुत्थो सत्ताहो

आज भी उस भूभाग पर वने स्तूप का वही (मन्थन) नाम रखा गया है। देवता, मनुष्य तथा नाग उसकी पूजा करते है तथा उसी (पूजा-फल) से स्वर्ग को जाते हैं ॥ ४१८ ॥

चतुर्थ सप्ताह समाप्त ।

ततो जिनो गन्त्व' जपालमूले ।
विमुत्तिजं साधुफलं'[3] नुभोन्तो ॥
सत्ताहमत्तं अतिवत्तयी सो ।
देवातिदेवो करुणागुणग्गो ॥ ४१९ ॥

तब देवताओं में श्रेष्ठ, करुणा-गुण में अग्रणी 'जिन' ने अजपाल वृक्ष के मूल में जाकर विमुक्ति से उत्पन्न सुफल का अनुभव करते हुए एक सप्ताह बिताया ॥ ४१९ ॥

---

१. भङ्गी–ब० ।
२. खेपयं हानि–सिं० ।
३. साधु–ब० ।

तदा'गता मारवधू मुनिन्दं ।
पलोभितुं सा पितुनो सकासं ॥
तासं पयोगम्पि'ध विन्दुमत्तं ।
कथीयते तं समुपागतत्ता ॥ ४२० ॥

तब अपने पिता के पास से मुनीन्द्र को लुब्ध करने मारवधुएँ आ पहुँचीं। उनके प्रयोग का भी कुछ वर्णन प्रसङ्गवश यहाँ किया जा रहा है ॥ ४२० ॥

तदा स मारो समरो जिनेन ।
पराजितो सोचनको' पगन्त्वा ॥
पज्झायमानो'थ अधोमुखो व ।
निसीदि तुण्ही विलिखं छमायं ॥ ४२१ ॥

उस समय जिन द्वारा पराजित, शोकाकुल मार विलाप करता हुआ एवं (क्रोध से) जलता हुआ निम्न मुख होकर पृथ्वी को कुरेदता हुआ बैठ गया ॥ ४२१ ॥

पराजयं मह्य ममेव दोसो ।
न तस्स कस्मा' हमयं[1] 'व ना' सिं[2] ॥
सीसक्खिमंसादि[3] च पुत्तदारे ।
ना' द'न्ति एवं मनसीकरोन्तो ॥ ४२२ ॥

वह ऐसा सोचने लगा—मेरी पराजय हुई है, इसमें मेरा ही दोष है। उसका नहीं। क्योंकि मैं उसके समान नहीं था। मैंने सिर, आँख, माँस आदि तथा पुत्र-पत्नी का दान नहीं दिया है ॥ ४२२ ॥

पवत्तिमेतं मकरद्धजस्स ।
सुत्वान तण्हा अरती रगा च[4] ॥

१. इमं-ब० ।
२. विनासं-ब० ।
३. सिक्खीमसादि-ब० ।
४. रगायो-सिं० ।

यत्थ'च्छि मारो परिसोचयन्तो ।
तत्थागमुं ता चकिता खणेन ।। ४२३ ।।

मार की इस प्रवृत्ति को सुनकर तृष्णा, अरति तथा रगा आश्चर्यचकित हो, विचार करती हुई जहाँ मार विलाप कर रहा था, वहाँ क्षण भर में ही पहुँच गईं ।। ४२३ ।।

दिस्वान तं तत्थ तथा निसिन्नं ।
निस्सासरुद्धं गिरमुग्गिरन्ती[1] ।।
तुसारविन्दूनिवहेहि' सार[2]- ।
पङ्केरुहाकारविसालनेत्ता ।। ४२४ ।।

उसे उस प्रकार वहाँ बैठा हुआ देखकर तुषारविन्दुओं के प्रहार से सारहीन कमल के समान विशाल नेत्रों वाली (वे कन्याएं) निःश्वास से अवरुद्ध वाणी बोलने लगीं ।। ४२४ ।।

हा तात ! हा तात ! किमासि ते'दं ।
नट्ठन्तु ते किं वद पत्थसि किं ।।
को ते दिसो केन पराजितो' सि ।
किमानयिस्साम हनाम कं भो ।। ४२५ ।।

हा पितः ! हा पितः ! तुम्हें क्या हो गया ? तुम्हारा क्या नष्ट हो गया ? बोलो, क्या चाहते हो ? तुम्हारा कौन शत्रु है ? तुम्हें किसने हराया है ? क्या लाएँ, किसको मार डालें ? ।। ४२५ ।।

अथ मारो

किं भोतियो दानि न पस्सथे तं ।
सुद्धोदनीयं ततकित्तिघोसं ।।
मुखम्हि मह्यं मसिमक्खयन्तं ।
अतिच्च यन्तं विसयं पसह्य ।। ४२६ ।।

---

१. अन्ता–ब० ।
२. सारं–ब० ।

अब मार,

क्या तुम लोग इस समय मेरे मुख पर कालिख मलते हुए, मेरे राज्य का बलात् अतिक्रमण करके जाते हुए, विस्तृत यश-ध्वनि वाले इस शुद्धोदन पुत्र को नहीं देखती हो ? ॥ ४२६ ॥

अथ मारकञ्ञायो

न भारियं तात मनुस्सभूतं ।
कत्तुं वसं[1] को वसमेति नाम्हं[2] ॥
तं रागपासेन गजं व मत्तं[3] ।
सुबन्धकं बन्धिय आनयेम ॥ ४२७ ॥

अब मारकन्याएँ,

"तात ! मनुष्य पर अधिकार करना हमारे लिए कठिन नहीं है। कौन हमारे वश में नहीं आता ? उसे रागपाश में मतवाले हाथी की भाँति दृढ़ता से बाँधकर ले आती हैं ॥ ४२७ ॥

अथ मारो

न हि रागपासेन हि आननीयो ।
मारस्स धेय्यं समतिक्कमी' व ॥
अपेतरागो अरहा अकम्पो ।
सोचाम तस्मा सुभगा तनूजा ! ॥ ४२८ ॥

अब मार,

मेरी अच्छी पुत्रियों ! मैं सोचता हूँ कि वह रागपाश से नहीं लाया जा सकता। यह अर्हत् मार के क्षेत्र को पार कर चुका है तथा राग से मुक्त एवं अकम्प्य है ॥ ४२८ ॥

---

१. कत्तुञ्ञसं–ब० ।

२. अम्हे–ब० ।

३. पञ्ञम–ब० ।

अथ मारकञ्ञायो

सचेतनो सो हि मनुस्सभूतो ।
अचेतनञ्चे समुपागमाम ॥
करोम तं नो वसगं किमेत्थ ।
चित्तं बलं पस्सथ नो खणेन ॥ ४२९ ॥

अब मारकन्याएँ,

वह मनुष्यभूत एक चेतन प्राणी है। यदि हम अचेतन बनकर उसके पास जाएँ तो उसे वश में कर सकते हैं। इसमें आश्चर्य क्या है? क्षण भर में ही आप हमारे बल को देखें ॥ ४२९ ॥

रूपेन मेत्तं सुमनोहरेन ।
गन्धेन घाणं सवणं सरेन ॥
फस्सेन गत्तं रससा रसञ्ञं ।
मनञ्च पासेन च कामजेन ॥ ४३० ॥

रमणीय रूप द्वारा नेत्र को, गन्ध से घ्राण को, स्वर से श्रोत्र को, स्पर्श से गात्र को, रस से जिह्वा को तथा कामोत्पन्न पाश से मन को ॥ ४३० ॥

सुबाहुपासेन च तस्स गीवं ।
बाहुद्वयं धारितमालदामा[1] ॥
बन्धित्व[2] दाने' व तमानयाम ।
बलं हि पस्सथ तात दानि ॥ ४३१ ॥

ओर सुदृढ़ बाहुपाश से उसकी ग्रीवा को तथा धारण किये हुए मालाओं से उसकी दोनों भुजाओं को बाँध कर अभी लाते हैं। पिताजी! हमारी शक्ति अभी देखिए ॥ ४३१ ॥

वत्वान एवं वचनं पितुस्स ।
पणम्म पादानि पगब्भितत्ता[3] ॥

१. दामं–सिं० । २. बन्दित्व–रो० । ३. पगब्भितन्ता–रो० ।

यत्थ'च्छि मारारि विरोचमानो ।
तत्थागमुं खिप्पमुदग्गचित्ता ।। ४३२ ।।

इस प्रकार कहकर पिता के पैरों में प्रणाम कर प्रगल्भित मन से वे (मारवधुएँ) उल्लसित हो वहाँ जा पहुंची, जहाँ मारशत्रु (सुगत) प्रकाशमान हो बैठे थे ।। ४३२ ।।

सामोदमालाकुलकेसभार- ।
पयोधरा कुङ्कुमहारिहारा ।।
बिम्बाधरा चारुसभापभासा ।
उम्मादयन्ती जनमानसानि ।। ४३३ ।।

सुगन्धित मालाओं से युक्त केशों एवं स्तनों वाली, कुमकुम से मनोहर हारों वाली, बिम्बाफल के समान अधरों वाली तथा सुन्दर वाणी वाली वे कन्याएँ लोगों के मनों को उन्मत्त बनाती हुई ।। ४३३ ।।

मुद्धेन मिस्सं मधुरे निमुग्गं ।
स्नेहेन तिन्तं रसतो' नुविद्धं ।।
भासिसु बाचं हदयङ्गमन्ता[1] ।
विलोकनेने'व धितिं हरन्ती[2] ।। ४३४ ।।

अवलोकनमात्र से ही धैर्य को चुराती हुई (वे) स्वाभाविकता से मिश्रित, मधुरता में डूबी हुई, स्नेह से सिंचित, रस से आप्लावित तथा हृदय को छूने वाली वाणी बोलने लगीं ।। ४३४ ।।

वसन्तकन्तो नवयोब्बनो' सि ।
सुवण्णवण्णो हदयङ्गमो'सि ।।
एको निसिन्नो'सि वटस्स मूले ।
सीमन्तिनी सामि कुहिन्नु तुय्हं ! ।। ४३५ ।।

---

१. मा–ब० । २. ता–ब० ।

स्वामी ! (तुम) वसन्त के समान कमनीय, नवयौवन से सम्पन्न, सुन्दर वर्ण वाले तथा हृदय को छूने वाले हो। वट (वृक्ष) के मूल में अकेले बैठे हो। तुम्हारी पत्नी कहाँ है ? ॥ ४३५ ॥

तरङ्गहीनो पि तरङ्गमाली
ससङ्कहीना रजनी च सामि
हंसालिहीना सरसी सुफुल्ला
नाभाति कान्ताविरतो धवो पि ॥ ४३६ ॥

हे स्वामी जैसे तरङ्गहीन समुद्र, चन्द्रविहीन रात्रि, हंस पंक्तियों के बिना सुपुष्पित तालाब, (शोभित नहीं होते), उसी प्रकार प्रियावियुक्त पति शोभा को धारण नहीं करता है ॥ ४३६ ॥

वसन्तकालो[1] च वनं सुफुल्लं
निसाकराभा भमरालि-गीतं
सुगन्धमन्दोपगता समीरा
विरोचसि त्वम्पि च योब्बनेन ॥ ४३७ ॥

यहाँ वसन्त का समय है, वन पुष्पित हैं, चाँदनी रात है, भ्रमर-पंक्तियों के गीत हैं, सुगन्ध एवं मन्द गति वाला पवन है और तुम भी नवयौवन से विराजित हो ॥ ४३७ ॥

मयम्पि चे' त्थे' व समागता' म्ह
मनोनुकूला च मनुञ्ञरूपा
करोति किन्वज्ज[2] स कामदाहो
कामाकरो दानि समागतो सो ॥ ४३८ ॥

मन के अनुरूप मनोहर रूपों वाली हम भी यहाँ आयी हुई हैं। आज कामज्वर क्यों न हो ? हमारी वासना का खजाना अब आ पहुँचा है ॥ ४३८ ॥

---

१. काले–ब० । २. किमज्ज–सिं० ।

मा ते' दिसं योब्बनरूपसारं[1]
सुविग्गहं छादय चीवरेन ।
तेने' व नो नेत्तमनम्हि सामि
मा देहि[2] दाहं तव दासिभूते[3] ।। ४३९ ।।

यौवन से युक्त रूप वाले अपने सुन्दर शरीर को इस तरह चीवर से आच्छादित मत करो। स्वामी ! उस चीवर से ही आपके दासीभूत हमारे नेत्रों एवं मन में आग मत जलाओ ॥ ४३९ ॥

नखंसु सुत्ते' रुणपानिपादे
नेत्ति'न्दनीलानि व आवुणन्तो ।
तमिच्छितो सामि मुखम्बुजेसु
न एन्ति किन्ते नयनालिमाला ।। ४४० ।।

स्वामी ! आपके लाल हाथों एवं पैरों के नाखूनों की किरणों रूपी धागों में अपने नेत्रों रूपी इन्द्रनील (मणि) को पिरोती हुई हम आपको चाहती हैं। तुम्हारे नेत्र रूपी भ्रमर हमारे मुख-कमलों पर क्यों नहीं आते ? ॥४४०॥

सुधासिलाघिञ्ञकलोहदारु—
जातेहि त्वं धीर न निम्मितो'सि, ।
रूपी' सि सोम्मो' सि तथा' पि सामि
किं कामरागं मनसा नुदेसि ।। ४४१ ।।

धीर पुरुष ! तुम पलस्तर, पत्थर, ईट, लोहा एवं लकड़ी से निर्मित नहीं हो। रूपवान् हो सुन्दर हो। तब भी स्वामी ! मन से काम राग का तिरस्कार क्यों करते हो ? ।। ४४१ ॥

"अयञ्च बाला चतुरा रतीसु ।
बाले' ति कञ्चं जह मानसम्हि ।।

---

१. सार–ब० ।
२. मोदेहि–व० ।
३. भूतो–ब० ।

किं मञ्जरी भिज्जति सम्पफुल्ला ।
मत्तालिराजे परिचुम्बमाने ।। ४४२ ।।

यह बाला रति-क्रिया में चतुर है। 'कमसिन है' यह विचार मन से निकाल दो। क्या मत्त भ्रमरों के चुम्बन करने पर पुष्पित मञ्जरी टूट जाती है ? अर्थात् नहीं।। ४४२ ।।

अयञ्च रामा रमणीयरूपा ।
पीनोरुगण्डा कुचमण्डला च ।।
तं कामिनिं कामय फुल्लकञ्जे ।
हंसो यथा केसरसम्पगिद्धो ।। ४४३ ।।

यह रमणी रमणीय रूप वाली, स्थूल जांघों, गण्डस्थलों एवं स्तनमण्डलों वाली है। तुम इस कामिनी की उसी प्रकार कामना करो जैसे हंस पुष्पित कमल में केसर का अभिलाषी हो ।। ४४३ ।।

चिन्तामणिं भद्दघटञ्च कप्प-
तरुं समासज्ज[1] दळिद्दभावा[2] ।।
नापेन्ति सत्ता खलु दुब्भगत्ता ।
तथे'व नो' सि तव पादसेवा ।। ४४४ ।।

चिन्तामणि, भद्रघट तथा कल्पतरु को प्राप्त करके भी प्राणी दुर्भाग्य की वजह से दरिद्रता से दूर नहीं होते, इसी तरह हमारे लिए आप की चरण सेवा है ।। ४४४ ।।

एवं हि ता रञ्जनमञ्जुभासा ।
सहस्समेकञ्च सतानि अट्ठ ।।
वेसानि सम्मा अभिनिम्मिणित्वा ।
पलोभयुन्तं बहुधा मुनिन्दं ।। ४४५ ।।

---

१. ०पज्ज–सि० ।
२. भावं–ब० सिं० ।

इस प्रकार मनोरञ्जक एवं सुन्दर वचनों के साथ एक हजार आठ सौ वेश बनाकर उन मार कन्याओं ने मुनि श्रेष्ठ को अनेक प्रकार से प्रलोभित किया ॥ ४४५ ॥

ततो रगा—

यक्खो' हि मत्तो' सि सिलामयो' सि ।
अचेतनो' साथ अयोमयो' सि ॥
अवीतरागं हि सचेतनञ्चे[1] ।
अनेनु' पायेनु' पसङ्कमाम ॥ ४४६ ॥

रगा ने (कहा)—

तुम यक्ष हो, मतवाले हो, प्रस्तर निर्मित हो, अचेतन हो और लोहे से बने हो, क्योंकि यदि हम इस उपाय से किसी रागी और चेतन (प्राणी) के पास पहुँचते तो—॥ ४४६ ॥

फलेय्य[2] खिप्पं हदयं हि तस्स ।
उण्हं व रत्तं मुखतु' ग्गमेय्य ॥
सिया व खिप्पं अपि चित्तखेपं ।
उम्मादभावं च[3] स पापुणेय्य ॥ ४४७ ॥

उसका हृदय शीघ्र ही फट जाता, उसके मुख से गर्म खून सा निकलता, उसका चित्त शीघ्र ही विक्षिप्त हो जाता या वह उन्माद-भाव को प्राप्त हो जाता ॥ ४४७ ॥

यथा[4] पलुत्तो[4] हरितोपलम्हि[5] ।
खित्तो नको सुस्सति आतपेन ॥
एवं विसुस्सेति विसादमेति ।
सो मुच्छती मुह्यति दुक्खमेति ॥ ४४८ ॥

---

१. चेतने–ब० ।
२. फालेय्य–ब० ।
३. व–सिं० ।
४. याथाबलुत्तो–ब० ।
५. फलह्मि–ब० ।

जैसे कच्चा नरकट तोड़कर पत्थर पर फेंकने पर गर्मी से सूख जाता है उसी प्रकार वह सूख जाता, विषाद को प्राप्त होता, मूर्च्छित हो जाता, मुग्ध हो जाता या दुःख को प्राप्त करता ॥ ४४८ ॥

सोकावकिण्णो[1] नु वनम्हि झायसि ।
वित्तन्नु[2] न जितो उद पत्थयानो ॥
आगुन्नु गामम्हि[3] अकासि किञ्चि ।
जनेन कस्मा न करोसि सक्खि ? ॥ ४४९ ॥

क्या तुम शोकाकुल हो वन में ध्यान कर रहे हो ? तुम्हारा कोई धन तो नहीं खो गया है, जिसे ढूँढ़ रहे हो ? गाँव में कोई अपराध तो करके नहीं आये हो ? आदमी से मित्रता क्यों नहीं करते हो ? ॥ ४४९ ॥

सत्था--

अथस्स पत्ति हदयस्स सन्ति ।
जेत्वाव[4] सेनं पियसातरूपं ॥
एको' हं झायं सुखमानुबोधिं ।
जनेन तस्मा न करोमि सक्खि ॥ ४५० ॥

शास्ता (ने कहा)—

अकेले ध्यान लगाकर मैंने आनन्द एवं उल्लास की सेना को जीतकर सुख का अनुभव करते हुए इस (पर्यङ्क) तथा हृदय की शान्ति पायी है, इसीलिए मैं आदमी (तुम) से मित्रता नहीं करता ॥ ४५० ॥

पलुट्ठगत्तं दहनेन मक्कटिं ।
सुसानपेतिञ्च जिगुच्छनीयं ॥
जेगुच्छियं जङ्गममोळ्हरासिं ।
दिस्वान को तं वरये सपञ्ञो ॥ ४५१ ॥

---

१. ०तिण्णो–ब० सि० ।

२. चित्तं–रो० ।

३. मिं–स्ब० ।

४. छेत्वान–रो० ।

आग से जले शरीर वाली बन्दरी, घृणित श्मशान की प्रेती तथा चलती हुई मलराशि के समान घृणास्पद तुम्हें देखकर कौन बुद्धिमान् वरण करेगा ? ॥ ४५१ ॥

अथ अरति—

कथं विहारी बहुलो च भिक्खु ।
पञ्चोघतिण्णो अतरीध छट्ठं ॥
कामं झायि[1] बहुलं कामसञ्ञा ।
परिबाहिरा होन्ति अलद्ध यो तं[2] ॥ ४५२ ॥

तब अरति—

बिहार करने वाले तथा पाँच ओघों को पार करने वाले भिक्षु ने किस प्रकार छठे ओघ[3] को पार कर लिया ? उसने कैसे ध्यान किया कि उसके कामातुर विचार बाहर ही रहे जिसके कारण वह उससे वञ्चित रहा ? ॥ ४५२ ॥

अथ सत्था—

पस्सद्धकायो सुविमुत्तचित्तो ।
असङ्खरानो सतिमा अनोकं ॥
अञ्ञाय धम्मं अवितक्कझायी ।
न कुप्पती न-स्सरती[4] न थीनो ॥ ४५३ ॥

अब शास्ता—

शान्तकाय, विमुक्तचित्त, (पाप-पुण्य का) संचय न करने वाला, स्मृतिमान्, बेघर, धर्म को जानकर वितर्कविहीन हो ध्यान करने वाला (भिक्षु) क्रोध नहीं करता । वह कामविहीन तथा अप्रमादी होता है ॥ ४५३ ॥

एवं विहारी बहुलो च भिक्खु ।
पञ्चोघतिण्णो अतरीध छट्ठं ॥

---

१. झायि–ब० ।
२. सोकं–ब० ।
३. ओघ–संसार की धारा ।
४. तस्स रति–ब० ।

एवं झायिं[1] बहुलं[1] कामसञ्ञा ।
परिबाहिरा होन्ति अलद्ध यो[2] तं[2] ।। ४५४ ।।

इस प्रकार विहार करने वाले ने यहाँ छठे ओघ को भी पार कर लिया। उसने ध्यान किया। इसीलिए उसके कामपूर्ण विचार बाहर रहे और वह उनसे बंचित रहा ॥ ४५४ ॥

अथ तण्हा—

अच्छेच्छि[3] तण्हं गणसङ्घचारो[4] ।
अद्धा तरिस्सन्ति बहू च सद्धा ।।
बहु[5] वतायं जनतं[6] अनोकी ।
अच्छिज्ज नेस्सति मच्चुराजस्स पारं ।। ४५५ ।।

अब तृष्णा—

इसने सङ्घ में रहते हुए तृष्ण का नाश कर लिया है। निश्चित रूप से इसमें श्रद्धा रखने वाले बहुत से लोग (भवसागर) पार कर जाएंगे। बेघर होकर यह बहुत से लोगों को मृत्युराज से दूर अनश्वर किनारे पर ले जाएगा ॥ ४५५ ॥

अथ सत्था—

''नयन्ति वे महावीरा सद्धम्मेन तथागता ।
धम्मेन नयमानानं का उसूया विजानतं ।। ४५६ ।।

अब शास्ता—

महावीर तथागत सद्धर्म के द्वारा लोगों को ले जाते हैं। धर्म के माध्यम से (निर्वाण तक) ले जाने वाले लोगों को क्रोध कैसा ? ॥ ४५६ ॥

---

१. बिहारि बहुलो-ब० ।
२. सोकं-ब० ।
३. अच्छिज्ज-ब० ।
४. चारि-ब० ।
५. बहू-ब० ।
६. जनता-ब० ।

सुत्वान तं धम्मवरं जिनस्स ।
पमत्तबन्धुस्स[1] रगादिरामा[1] ।।
पलोभितुं नेव समत्थका तं ।
अगंसु खिप्पं पितुनो सकासं ।। ४५७ ।।

विजयी के श्रेष्ठ धर्म को सुनकर रगा आदि मार कन्याएं उन्हें प्रलोभित करने में असमर्थ होकर, प्रमाद के बन्धु अपने पिता (मार) के पास शीघ्र हीं चलीं गईं ॥ ४५७ ॥

मारो तदा 'राव समेक्खमानो[2] ।
दिस्वा 'गता केवलमेव तायो[3] ।।
मा कत्थ कामं मम भासितानि ।
काम 'त्थ पातुं मिगतण्हिकायं ।। ४५८ ।।

तब उन्हें अकेले आते देखकर मार विलाप करने लगा—मेरो बात पर तुमने ध्यान नहीं दिया। तुमने मृगतृष्णा में जल को पीना चाहा था ॥ ४५८ ॥

बाला कुमुदनाळेन[4] पब्बतं अभिमन्थथ ।
गिरिं नखेन खणथ अयो दन्तेहि खादथ ।। ४५९ ।।

अरी मूर्खों ! कुमुदनाल से पर्वत का मन्थन करती हो। नख से पहाड़ खोदती हो अथवा दातों से लोहे को चबाती हो ? ॥ ४५९ ॥

सेलं व सिरसि ऊहच्च पाताले गाधमेसथ[5] ।
खानुं व उरसा' सज्ज निब्बिजापेथ गोतमं[6] ।। ४६० ।।

---

१. ०स्सु राजाभि–ब० ।

२. समोक्ख०–ब० ।

३, कायो–ब० ।

४. नाळेहि–सिं० ।

५. एधय–ब० ।

६. गोतमा–सिं० ।

सिर पर पर्वत उठाकर पाताल में पैर रखने का स्थान ढूढ़ती हो ? स्थाणु को छाती से लगाकर गौतम की ओर से निराश हो जाओ ॥ ४६० ॥

वत्वान एवं विमनो स मारो ।
सधीतुको सम्भवनं पयासि ॥
सत्था' थ रागं पजहित्व[1] तासु' ।
जहासि तस्मि दिवसानि सत्त ॥ ४६१ ॥

इस प्रकार कहकर उदास मन वह मार अपनी पुत्रियों के साथ अपने लोक को चला गया। इसके पश्चात् शास्ता ने उनके प्रति राग त्याग कर वहाँ सात दिन बिताए ॥ ४६१ ॥

अज्जा पि तं साखिवरम्पि तेन'-
नुभूतमत्तेन महेन्ति सब्बे ॥
तेने' व ते सग्गगता विमाने ।
मोदेन्ति कामेहि अनूपमेहि ॥ ४६२ ॥

इति पञ्चमसत्ताहं ।

आज भी उस श्रेष्ठ वृक्ष की पूजा करते हैं तथा उसके अनुभव मात्र से ही वे स्वर्ग में पहुँच कर दिव्य भवनों में अनुपम आनन्द को प्राप्त करते हैं ॥ ४६२ ॥

पंचम सप्ताह समाप्त ॥

---

१. रागा परिमुत्तचित्तो–सिं० ।

ततो मुनिन्दो मुचलिन्दमूले ।
निसीदि गन्त्वा पवरासनम्हि ॥
युगन्धरे बालरवी' व रंसि-
जालाहि लोकं परिपूरयन्तो ॥ ४६३ ॥

इसके अनन्तर मुनिराज मुचलिन्द[1] वृक्ष के नीचे जाकर श्रेष्ठ आसन पर, किरण समूहों से संसार को अलोकित करते हुए युगन्धर पर्वत पर बाल सूर्य (नवोदित सूर्य) के समान बैठ गये ॥ ४६३ ॥

अथा'ग मेघो जलदासतेहि ।
पपूरयं खं थनयं सविज्जू ॥
ससीतवातो किरमम्बुधारं ।
विरोचमानो विसकण्ठिकाहि ॥ ४६४ ॥

तब सैकड़ों बादलों से आकाश को भरता हुआ, बिजली के साथ गरजता हुआ, शीतल वायु वाला मेघ, जल की धारा बिखेरता हुआ बलाकाओं[2] से सुशोभित होता हुआ पहुँचा ॥ ४६४ ॥

अमन्दनन्दो मुचलिन्दभोगी ।
दिस्वा मुनिन्दं मुचलिन्दमूले ॥
परिक्खिपित्वान विशालभोगा ।
छादेत्व सम्मा सभणो[3] फणेन ॥ ४६५ ॥

असीम आनन्द से युक्त मुचलिन्द नाग ने मुनिराज को वृक्ष के नीचे देखकर अपने विशाल फन को फैलाकर उससे उन्हें आच्छादित कर—॥ ४६५ ॥

---

१. मुचलिन्द—अजपाल न्यग्रोध के पास का एक वृक्ष जहाँ मुचलिन्द नामक नागों का राजा रहता था। (मलल० मुचलिन्द)।

२, बलाका = विसकण्ठिका (अमर० २।५।२५)।

३. ०णी–ब०।

अज्झेसि सो तस्स अनुग्गहाय ।
निसीदि गन्त्वा भुजगासनम्हि ॥
सत्था तदा रूपियमन्दिरे व ।
सत्ताहमत्तं सुविमुत्तचित्तो ॥ ४६६ ॥

विचार करने लगा। तब शास्ता उस पर अनुग्रह करने हेतु जाकर भुजगासन पर विमुक्तचित्त हो चाँदी के महल में बैठे हुए के समान सात दिन तक बैठे रहे ॥ ४६६ ॥

अज्जापि तं साखिवरम्पि तेन' ।
नुभूतमत्तेन महेन्ति सब्बे ॥
तेने' व ते सग्गगता विमाने ।
मोदेन्ति कामेहि अनूपमेहि ॥ ४६७ ॥

इति छट्ठमसत्ताहं

आज भी उस श्रेष्ठ वृक्ष की सभी पूजा करते हैं तथा उसके स्मरण-मात्र से ही स्वर्ग में जाकर दिब्य भवन में अनुपम आनन्द का भोग करते हैं ॥ ४६७ ॥

षष्ठ सप्ताह समाप्त ॥

ततोपगन्त्वा यतिराजराजा ।
निसीदि राजायतनस्स मूले ॥
विमुत्तिजं पीतिसुखं' नुभोन्तो ।
सत्ताहमत्तं करुणागुणग्गो ॥ ४६८ ॥

तब करुणा गुण में श्रेष्ठ मुनिराज राजायतन[1] वृक्ष के नीचे जाकर विमुक्ति से उत्पन्न प्रीति-सुख का अनुभव करते हुए एक सप्ताह तक बैठे रहे ॥ ४६८ ॥

अज्जापि तं साखिवरम्पि तेन' ।
नुभूतमत्तेन महेन्ति सब्बे ॥
ते न' व ते सग्गगता विमाने ।
मोदेन्ति कामेहि अनूपमेहि ॥ ४६९ ॥

इति सत्तमसत्ताहं

आज भी उस वृक्ष विशेष की सभी पूजा करते हैं तथा उसके अनुभवमात्र से ही स्वर्ग पहुँच कर दिव्य भवन में अनुपम आनन्द को प्राप्त करते हैं ॥ ४६९ ॥

सप्तम सप्ताह समाप्त ।

आहारकिच्चादिविवज्जितस्स ।
सुखानुभोन्तस्स विमुत्तिजानि ॥
सम्पीणितङ्गस्स जिनस्स तस्स ।
इच्च-च्चगुं सत्तदिनानि सत्त ॥ ४७० ॥

इति अभिसम्बोधिकथा

आहारकृत्य आदि से रहित, विमुक्ति से उत्पन्न सुख का अनुभव करने वाले तथा प्रसन्न अङ्गों वाले उस विजयी के सात सप्ताह इसी प्रकार बीत गये ॥ ४७० ॥

अभिसम्बोधिकथा समाप्त ॥

---

१. राजायतन—एक वृक्ष जहाँ बुद्धत्वप्राप्ति के बाद बुद्ध ने तपस्सु एवं भल्लुक (व्यापारी) से सत्तू एवं मधु का दान ग्रहण किया था । (मलल-राजायतन)

तपस्सु-भल्लिकपब्बज्जा

देवानमिन्देन ततोपनीत—
मुखोदकादिं परिभुञ्जियान ।।
निसिन्नमत्ते यतिराजराजे ।
तत्थागमुं द्वे वणिजा खणेन ।। ४७१ ।।

इसके पश्चात् देवराज इन्द्र द्वारा लाए गये मुखोदक (मुखप्रक्षालनार्थ जल) आदि का उपभोग करके ऋषिराज के आसीन होते ही वहाँ दो व्यापारी आ पहुँचे ।। ४७१ ।।

उस्सासिता देववरेन सम्मा ।
सालोहिता तस्स तपस्सुभल्लुका[1] ।।
मन्थञ्च सादुं[2] मधुपिण्डकञ्च ।
आदाय नाथं इदमब्रवुं ते ।। ४७२ ।।

श्रेष्ठ देवता द्वारा प्रेरित उसके दो सम्बन्धिगण तपस्सु और भल्लुक स्वादिष्ट जौ का सत्तू तथा मधुपिण्ड लेकर स्वामी से इस प्रकार बोले ।। ४७२ ।।

इदं हि नो धीर ! अनुग्गहाय ।
परिग्गहेत्वा परिभुञ्ज दानं ।।
हिताय तं होति सुखाय चे' व ।
अनप्पकप्पेसु अनागतेसु[3] ।। ४७३ ।।

हे धीर पुरुष ! हमारे ऊपर अनुग्रह करके इस दान को ग्रहण कर इसका उपभोग करें । यह भविष्य में हमारे अनेक कल्पों तक सुख का कारण होगा ।।४७३।।

---

१. ०भल्लिका–ब० ।

२. साधुं–ब० ।

३. अनागमतेसु–रो० ।

पटिग्गहेत्वा मुनि देवदिन्न[1]-।
पत्तेन पच्चग्घसिलामयेन ॥
भुत्वान तेसं अनुमोदनत्थं ।
देसेसि धम्मं वरदं पसत्थं ॥ ४७४ ॥

देवप्रदत्त, सुन्दर प्रस्तरों से निर्मित पात्र से उसे ग्रहण कर तथा पुनः उसका उपभोग कर उनके अनुमोदनार्थ मुनि ने प्रशस्त एवं निर्वाणप्रद धर्म की देशना की ॥ ४७४ ॥

द्वे भातिका वाणिजका जिनस्स ।
धम्मं सुणित्वान पसन्नचित्ता ॥
द्वेवाचिकोपासकतं गता'सुं ।
याचिंसु ते तं पुन पूजनीयं[2] ॥ ४७५ ॥

दोनों व्यापारी बन्धु 'जिन' के धर्म को सुनकर प्रसन्नचित्त हो दो वचन[3] वाले उपासकत्व को प्राप्त हुए। तब उन्होंने उनसे पूजनार्थ कोई वस्तु माँगी ॥ ४७५ ॥

परामसित्वान सिरं ततो सो ।
अदा जिनो कुन्तलधातुमुट्ठिं ॥
ते तेन तुट्ठा सुमना पतीता ।
महिंसु नेत्वा विभवानुरूपं ॥ ४७६ ॥

इति तपस्सु-भल्लिकपब्बजा

तब विजयी ने सिर को सहलाकर अपने बालों की मुट्ठी उन्हें दे दी। वे उससे प्रसन्न चित्त एवं विश्वस्त होकर उसे ले जाकर अपनी शक्ति के अनुरूप उसकी पूजा करने लगे ॥ ४७६ ॥

तपस्सु-भल्लिक प्रव्रज्या समाप्त ॥

---

१. दिन्नं–ब० ।

२. नियं–ब० ।

३. दो वचन = बुद्ध और धर्म, क्योंकि तब तक संघ का निर्माण नहीं हुआ था ।

ब्रह्मयाचनकथा

सत्था'थ गन्त्वा अजपालमूले।
सहस्सरंसीव युगन्धरम्हि ॥
निसज्ज लोकं अनुलोकयन्तो।
वितक्कि एवं मनसा वितक्कं ॥ ४७७ ॥

इसके अनन्तर शास्ता ने अजपाल वृक्ष के नीचे जाकर, युगन्धर पर्वत पर सूर्य की भाँति बैठकर संसार का अवलोकन करते हुए मन से इस तरह विचार किया ॥ ४७७ ॥

मय'ज्झपन्नो[1] वरधम्मसारो।
ससस्स सिन्धू'व अगाधसारो ॥
अबुद्धसत्तेहि तमज्ज कस्स।
पकासयिस्सं हि जळो हि लोको ॥ ४७८ ॥

आज मैंने श्रेष्ठ धर्म के सार को प्राप्त कर लिया है। खरगोश के लिए समुद्र की भाँति अज्ञ प्राणियों के लिए यह अथाह है। किसको मैं आज इसका प्रकाश दूँ, क्योंकि पूरा संसार ही जड़ है ॥ ४७८ ॥

देसेमि चे धम्मवरं पणीतं।
कीळन्तभावो व मम'स्स अस्मा ॥
किमत्तदुक्खेनि'ति चिन्तयन्तो'।
नुय्याममाका[2] मुनि देसनम्हि ॥ ४७९ ॥

यदि मैं इस श्रेंष्ठ धर्म को देशना करूँ तो मुझे इससे मात्र थकावट ही आएगी। अपने को दुःख देने से क्या लाभ?" इस प्रकार सोचते हुए मुनि देशना से अनुत्साहित हो गये ॥ ४७९ ॥

---

१. ०पत्तो–ब०। २. नुय्यामकामा–ब०, नुस्साहमाका–सिं०।

सहम्पती नाम ततो विधाता।
सचेतसा तस्स मनं विदित्वा॥
विनस्सतीदं खलु सब्बलोकं।
अदेसिते तेनि'ति कम्पमानो॥ ४८०॥

तब सहम्पति नामक ब्रह्मा अपने चित्त से उनके मन को जानकर "इनके उपदेश न देने से सारा संसार नष्ट हो जाएगा—इस प्रकार सोचकर काँपते हुए॥ ४८०॥

सकासमागम्म जिनस्स तस्स।
सगारवो ब्रह्मगणेन तत्थ॥
निहच्च जानुं पठवीतलम्हि।
नमस्समानो इदमब्रवी सो॥ ४८१॥

उस विजयी के पास देवताओं के साथ आकर घुटनों को पृथ्वीतल पर टेककर नमस्कार करते हुए इस प्रकार बोले॥ ४८१॥

त्वं देवदेवो स सुमेधकालो।
पलोकितं लोकमुदिक्खमानो॥
विहाय दीपङ्करपादमूले।
लद्धामतं तं करुणागुणेन॥ ४८२॥

हे देवताओं में श्रेष्ठ! जब आप सुमेध[1] थे तब आपने संसार का निरीक्षण करते प्रज्वलित जान छोड़ उसे दिया और तब आपने दीपङ्कार के चरणों में अपने करुणा-गुण से अमृत (निर्वाण) को प्राप्त किया॥ ४८२॥

पविस्स संसारवनं विदुग्गं।
मंसक्खिसीसादिमदासि दानं॥
वेदेसि दुक्खं अमितं असय्हं।
तं ते परत्थं व न अत्तहेतु॥ ४८३॥

---

१. सुमेध—बोधिसत्त्व सुमेध चर्या के दौरान एक बार दीपङ्कर बुद्ध को पङ्किल सड़क पार कराने हेतु स्वयं ही उनके पैरों के नीचे आ गये। (मलल : सुमेध)

संसार रूपी दुर्गम जंगल में प्रविष्ट होकर आपने मांस, आँख, सिर आदि का दान किया। आप इस असीमित एवं असह्य दुःख को जानते हैं। ये सब आपके कार्य परार्थ के लिए ही हैं, न कि स्वार्थ के लिए ॥ ४८३ ॥

सन्तीध सत्ता खलु मन्दरागा।
ञातुं समत्था सुगतस्स धम्मं ॥
आराधितो मे करुणागुणग्गो।
देसेहि धम्मं अनुकम्पमानो ॥ ४८४ ॥

इस संसार में अल्पराग वाले ऐसे प्राणी हैं जो सुगत का धर्म समझने में सक्षम हैं। हे करुणा गुण में श्रेष्ठ! मेरी आराधना पर अनुग्रह करके आप धर्म की देशना करें ॥ ४८४ ॥

काले विकासन्ति खरंसुमिस्सा।
थलम्बुजाता कुसुमानि नाना ॥
तथे'व ते धम्मकरा'भिफुट्ठा।
विकासमायान्ति जना अनेका ॥ ४८५ ॥

स्थल एवं जल में उगने वाले बहुत से पुष्प सूर्य की किरणों के संयोग से समय पर विकसित होते हैं। ठीक उसी प्रकार आपके धर्म रूपी किरणों से स्पृष्ट होकर अनेक लोग विकास को प्राप्त होंगे ॥ ४८५ ॥

सम्पन्नविज्चाचरणो सतीमा।
जुतिन्धरो अन्तिमदेहधारी ॥
परिग्गहेत्वा'स्स निमन्त्रणं सो।
जनेसि सत्ते करुणा मनस्मि ॥ ४८६ ॥

विद्या एवं आचरण से सम्पन्न, स्मृतिमान्, तेजस्वी एवं अन्तिम शरीर धारण करने वाले विजयी ने उनके निमन्त्रण को स्वीकार कर सत्त्वों के प्रति मन में करुणा उत्पन्न की ॥ ४८६ ॥

अपारुता तेसं' मतस्स द्वारा।
ये सोतवन्तो पमुचन्तु सद्धं ॥

विहिंससञ्ञी पगुणं न भासिं।
धम्मं पणीतं मनुजेसु ब्रह्मे ॥ ४८७ ॥

जो कान वाले (प्राणी) इसे सुनते हों वे श्रद्धा का प्रदर्शन करें। उनके लिए अमृत का द्वार खुला हुआ है। ऐ ब्रह्मा ! कष्ट ही होगा-ऐसा जान कर मैंने मनुष्य के लिए अभी तक श्रेष्ठ धर्म का उपदेश नहीं दिया है ॥ ४८७ ॥

परिग्गहेसी'ति उदग्गचित्तो।
अज्झेसनं मे चतुराननो सो ॥
नत्वान नाथं सहपारिसज्जो।
पक्कामि तम्हा भवनं खणेन ॥ ४८८ ॥

इति ब्रह्मयाचन कथा

"मेरे निवेदन को इन्होंने स्वीकार कर लिया है" ऐसा सोचकर प्रसन्नमन चतुर्मुख ब्रह्मा अपने परिषदों के साथ स्वामी को प्रणाम कर क्षर भर में ही वहाँ से अपने भवन को चल पड़ा ॥ ४८८ ॥

॥ ब्रह्मयाचन कथा समाप्त ॥

धम्मचक्कप्पवत्तनकथा

ततो जिनो'नेन गहीत'नुञ्ञो ।
देसेमि कस्से'ति उदिक्खमानो ॥
आलार-उद्दे समुदिक्ख धीरो ।
मन्त्वान तेसं अचिरच्चुतित्तं ॥ ४८९ ॥

तब ब्रह्मा द्वारा स्वीकृति मिल जाने पर धीर-पुरुष ने "किसको देशना दूँ ?" इस प्रकार सोचते हुए आळार कालाम एवं उद्दक रामपुत्त को देखा, किन्तु शीघ्र ही उनकी मृत्यु को जानकर—॥ ४८९ ॥

कहन्नु खो'हं वरधम्मचक्कं ।
अञ्ञेन केनापि अवत्तनीयं ॥
लोकस्स चिन्तामणिसन्निभग्गं ।
पवत्तयिस्सं ति विचिन्तयन्तो ॥ ४९० ॥

"दूसरों के द्वारा अप्रवर्तनीय इस महान् धर्मचक्र को, जो संसार के लिए चिन्तामणि के समान श्रेष्ठ हैं, किसके लिए प्रवर्तित करूँ ?" ऐसा सोचते हुए—॥ ४९० ॥

दिस्वान भिक्खू मुनि पञ्चवग्गे ।
आदाय पत्तञ्च तिचीवरञ्च ॥
वाराणसीयं मिगदायमेन्तो[1] ।
अद्धानमग्गं पटिपज्जि सत्था ॥ ४९१ ॥

पात्र एवं त्रिचीवर से युक्त पाँच भिक्षुओं को (ध्यान-बल से) देखकर मुनि वाराणसी के मृगदाय को जाने वाले मार्ग पर चल पड़े ॥ ४९१ ॥

तत्थामरब्रह्मगणेहि पूत-
पथे फणी पक्खि चतुप्पदा च ।

---

१. अन्तो—ब० ।

आरञ्ञदेवा तरुपब्बता च ।
महिंसु नेकेहि सुविम्हयेहि ॥ ४९२ ॥

वहाँ श्रेष्ठ देवताओं द्वारा स्वच्छ किए गए पथ में नाग, पक्षो, वन देवता, वृक्ष तथा पर्वतों ने उनकी बहुत अद्भुत पूजा को ॥ ४९२ ॥

ततो' पगा सो मिगदायमग्गे ।
दिस्वा यतीसं यतयो' पगन्त्वा ॥
अकंसु वत्तं पटिपत्तिसारा ।
पवत्तयी तत्थ स धम्मचक्कं ॥ ४९३ ॥

इसके बाद वे मृगदाय के मार्ग में प्रवृत्त हुए। मुनिश्रेष्ठ को वहाँ देखकर सदाचारी तपस्वी उनके पास जाकर उनकी सेवा करने लगे। उन्होंने (तथागतने) वहाँ धर्मचक्र प्रवर्तित किया ॥ ४९३ ॥

अञ्ञादि - कोण्डञ्ञवसिप्पधाना ।
कोटीनमट्ठारसकब्रह्मयोनि ॥
असीतिकोटीपि सुधासिसङ्घा ।
अञ्ञासु मग्गं कमतो तदा ते ॥ ४९४ ॥

इति धम्मचक्कप्पवत्तनकथा ॥

अज्ञात-कौण्डिन्य आदि[1] ऋषि जिनमें प्रधान थे, ऐसे अठारह करोड़ ब्रह्मा तथा अस्सी करोड़ देवता उस मार्ग को समझ सकें ॥ ४९४ ॥

धम्मचक्कप्पवत्तन कथा समाप्त ॥

---

१. अज्ञात—कौण्डिन्य आदि पाँचभिक्षु—भद्दिय. वप्प, अश्वजित्, कौण्डिन्य तथा महानाम (मलल-पञ्चवग्गिया)

यश पब्बज्जा

अतिच्च यातह्मि निदाघकाले।
वस्सानकाले समुपागतस्मि॥
तत्थे व वस्सं उपगम्म धीरो।
तेमासमत्तं अवसी वसी सो॥ ४९५॥

ग्रीष्मकाल के बीत जाने पर तथा वर्षाकाल के आने पर धैर्यशाली तथा इन्द्रियों को वश में करने वाले (सुगत) ने तीन मास तक का वर्षाकाल वहीं बिताया। ४९५॥

ततो यसं तस्स सहायके पि।
पतिट्ठपेत्वा अरहत्तमग्गे॥
भूतिं जनानं अनुब्रूहयन्तो।
वस्सस्स अन्तं अकरी तहिं सो॥ ४९६॥

इति यसपब्बज्जा।

तब यश एवं उसके सहायकों को अर्हत् के मार्ग पर प्रतिष्ठित कर लोगों के कल्याणार्थ चिन्तन करते हुए उन्होंने वहीं वर्षा का समय बिताया॥ ४९६॥

यश प्रव्रज्या समाप्त॥

धम्मचारिका

वस्सच्चये लोकविदू मुनिन्दो ।
अमन्तयी ते यतयो सपुत्ते ॥
ते 'था' गमुं निब्बणथा[1] कतञ्जली-
दमब्रुवि तेसमनन्तपञ्ञो ॥ ४९७ ॥

वर्षा के बीत जाने पर लोकज्ञाता मुनिराज ने उन यतियों एवं अपने शिष्यों को बुलाया। वे विगततृष्ण हो अञ्जलि बाँधे वहाँ आए। असीमप्रज्ञ तथागत ने उनसे कहा—॥ ४९७ ॥

उग्घोसयन्ता मम धम्मघोसं ।
समाहनन्ता मम धम्मभेरिं ॥
साधुं धमेन्ता मम धम्मसङ्खं ।
चराथ तुम्हे सनरामरानं ॥ ४९८ ॥

मेरे धर्म-घोष का उद्घोष करते हुए, मेरी धर्म-भेरी को बजाते हुए तथा मेरे धर्म-शङ्ख को बजाते हुए तुम लोग मनुष्यों एवं देवताओं तक विचरण करो ॥ ४९८ ॥

जयद्धजं मे भुवनु'क्खिपन्ता ।
उस्सापयन्ता मम धम्मकेतुं ॥
अथु'क्खिपन्ता मम धम्मकुन्तं ।
चराथ लोकेसु सदेवकेसु ॥ ४९९ ॥

मेरी विजय पताका को (विभिन्न) लोकों में फहराते हुए, मेरे धर्मध्वज को लहराते हुए तथा मेरे धर्म रूपी भाले को उठाते हुए तुम लोग देव सहित (अन्य) लोकों में विचरण करो ॥ ४९९ ॥

---

१. ब० निब्बनकं–ब० ।

सुसज्जितत्तं अमतस्स मग्गं।
सकण्टकत्तं नरकायनस्स॥
मारानर्नास्मि मसिमक्खयन्तं।
कथेथ लोकस्स सदेवकस्स॥ ५००॥

अमृत (निर्वाण) का मार्ग सुसज्जित है, नरक का मार्ग कण्टकाकीर्ण है। मार के मुख पर कालिख पुत गई है—ऐसा सभी देवों और लोगों को कहो॥ ५००॥

बुद्धन्तरं सुप्पिहितं अचारं।
पुरस्स मोक्खस्स विसालद्वारं॥
अवापुरी नो भगवा, धुना भो।
याथज्ज सब्बे ति निवेदयह्वो॥ ५०१॥

उन्हें बताओ—अरे दो बुद्धों की उपस्थिति के बीच बन्द हुए मोक्ष के विशाल द्वार को भगवान ने आज खोल दिया है। आज सभी उसके माध्यम से आओ॥ ५०१॥

उप्पन्नभावं भुवने मम'ज्ज।
तथे'व धम्मस्स च पातुभावं॥
उप्पन्नभावञ्च ममो'रसानं।
पकासयन्ता जगतिं चराथ॥ ५०२॥

आज मेरी उत्पत्ति, उसी प्रकार धर्म के प्रादुर्भाव एवं मेरे औरस पुत्रों अर्थात् सङ्घ के आविर्भाव का प्रकाशन करते हुए पृथ्वी पर विचरण करो॥ ५०२॥

वनह्मि पन्ते गिरिगह्वरायं[1]।
रुक्खस्स मूले पि च सुञ्ञगारे॥
वसं यतत्ता मम धम्ममग्गं।
देसेथ लोके सनरामरानं॥ ५०३॥

इति धम्मचारिका॥

स्वयं को वश में करके वन-प्रान्त, पर्वत गुफा, वृक्ष के मूल, शून्य भवन आदि में रहते हुए मेरे धर्म मार्ग का उपदेश देवमनुष्यों को दो॥ ५०३॥

धर्मचारिका समाप्त॥

१. आय—ब०।

उरुवेलगमनं

वत्वान एवं यतयो दिसासु ।
पेसेत्व नाथो उरुवेलगामिं[1] ।।
पटिपज्जि[2] मग्गं अथ अन्तराले ।
कप्पासिकह्वं विपिनं पविस्स ।। ५०४ ।।

इस प्रकार आदेश देकर ऋषियों को नाना दिशाओं में भेजकर स्वामी उरुबेला की ओर जाने वाले मार्ग पर आरूढ़ हुए। तब काल्पासिक[3] नामक जंगल में प्रविष्ट होकर ।। ५०४ ।।

तस्मिं रमन्ते समतिंसमत्ते ।
राजोरसे सो पवरो विनेत्वा ।।
दत्वा'मतं धम्मम'थु'द्दिसित्वा[4] ।
अगोरुवेलं गजराजगामी ।। ५०५ ।।

उसमें रमण करते हुए तीस राजकुमारों को विनय की शिक्षा देकर तथा निर्वाण एवं धर्म का उपदेश देकर हाथी की चाल वाले बुद्ध उरुवेला पहुँचे ।। ५०२ ।।

तत्थोरुवेलाधिककस्सपो ति ।
पसिद्धनामस्स ससिस्सकस्स ।।
अग्गं फलं सो परिपाचयन्तो ।
वसी वसन्ते वसिनं वरिट्ठो ।। ५०६ ।।

---

१. गामी-सिं० ।

२. पटिपज्जी—रो० ।

३. काल्पासिक—उरुबेला के पास एक वन जहाँ तीस भद्रवर्गीय युवाओं को बुद्ध ने उपदेश दिया था। (मलल० कप्पासिक)

४. धम्मं देसयित्वा-ब० ।

वहाँ उरुवेला में वसन्तकाल में अधिक काश्यप नाम से प्रसिद्ध ऋषि, अपने शिष्यों के साथ श्रेष्ठ फल का परिपाक करते हुए तथा वहाँ के ध्यानियों में श्रेष्ठ होकर निवास कर रहे थे ॥ ५०६ ॥

तदा'हरुं नेगमनागरा च।
यञ्ञं महाकस्सपतापसस्स ॥
जिनो विदित्वा'स्स मनं मनेन।
वसी विसुं तस्स पसादहेतु ॥ ५०७ ॥

इति उरुवेलगमनं ॥

उस समय नगर तथा निगम के निवासी तपस्वी महाकाश्यप के लिए यज्ञ आदि (की सामग्री) ला रहे थे। विजयी (बुद्ध) ने अपमे चित्त से उनके आशय को जानकर उनकी प्रसन्नता के लिए अलग ही निवास किया ॥ ५०७ ॥

उरुवेलागमन समाप्त ॥

उत्तरकुरुगमनं

गत्वान उत्तरकुरुं भगवा तदानि ।
पिण्डश्चरित्व रमणीय-हिमालयद्दि ॥
आगम्म सादुरसनीरभराभिरामे ।
नोतत्तके मुनिवरो परिभुञ्जियान[1] ॥ ५०८ ॥

तब भगवान् तथागत उत्तरकुरु जाकर भोजन हेतु भिक्षाटन करके रमणीय हिमालय के शिखर पर पहुँचकर स्वादिष्ट एवं मधुर जल की राशि से सुन्दर अनोतत्तक[2] जलाशय पर भोजन करते हुए—॥ ५०८ ॥

चिन्तेसि एवमहमप्पतरं व कालं ।
ठस्सामि सासनमनं हि अनागतेसु ॥
लङ्कातले भवति तत्थ इदानि यक्ख-
सम्बाधमत्थि मम तत्थ गतेसु दानि ॥ ५०९ ॥

इति उत्तरकुरुगमनं ॥

सोचने लगे—"यहाँ थोड़ी देर ही रुकूँगा। भविष्य में मेरे उपदेश का कार्य लङ्का-भूमि पर होगा, क्योंकि वहाँ सम्प्रति यक्षों का झगड़ा है। मुझे वहाँ जाना है ॥ ५०९ ॥

उत्तरकुरुगमन समाप्त ॥

---

१. भुञ्जियानं–सिं० ।

२. अनोत्तत्तक—सुदर्शन कूट, चित्रकूट, कालकूट, गन्धमादन तथा कैलाश पर्वतों से घिरा हिमालय का एक महान् जलाशय (मलल० ओतत्तक)

सब्बामनुस्सजभयं पविनस्सती''ति ।
मन्त्वा ततो यतिवरो करुणाय सत्ते ।।
सञ्झाघनेहि परिनद्धरवीव रत्त-
निग्रोधपक्कसदिसं वरपंसुकूलं ।। ५१० ।।

"मानवेतरों से उत्पन्न सभी भय नष्ट होंगे "ऐसा मानकर मुनिश्रेष्ठ ने प्राणियों पर करुणा के लिए, सायंकालीन मेघों से घिरे सूर्य की भाँति पके न्यग्रोध-फल के समान श्रेष्ठ पंसुकूल[1] (चीवर) को—।। ५१० ।।

धारेत्व सेलमयसुन्दरपत्तहत्थो ।
छब्वण्णरंसिनिवहं दिसि पूरयन्तो ।।
सम्बोधितो नवम—फुस्सजपुण्णमायं[2] ।
लङ्कातलं विजयितुं नभसा' गमासि ।। ५११ ।।

धारण कर प्रस्तर निर्मित सुन्दर पात्र को हाथ में लेकर दिशाओं में अपनी छः वर्णं की किरणों को बिखेरते हुए, सम्बोधि से नवें पूस की पूर्णिमा को आकाशमार्ग से विजय हेतु लङ्काभूमि पर पहुँचे ।। ५११ ।।

ब्रह्मासुरामरफणीगरुळा च सिद्ध-
विज्जाधरादिजनता सहपारिसज्जा ।
केतातपत्तघटदीपुरुतोरणेहि
पूजं अकंसु महतिं गगनायनह्मि ।। ५१२ ।।

अपने परिषदों के साथ ब्रह्मा, असुर, देवता, नाग, गरुड़, सिद्ध, विद्याधर और अन्य जनता ने ध्वजा, छत्र, घट, दीप एवं बड़े तोरणों से गगन रूपी मार्ग में महती पूजा की ।। ५१२ ।।

---

१. पंसुकूल—धूलधूसरित चिथड़े का वस्त्र जो भिक्षु का परिधान है । (पाइंडि-पंसुकूल)
२. फुस्सरज्जुनमासे-ब० ।

लङ्कङ्गना-उरसि भासुरतारहार-
सङ्काससीतलमनोहरनीरपूरा
तस्मिं महादिपद-वाळुकनाम गङ्गा ।
भूमज्झगा'सि जननेत्तहरा'भिरामा ॥ ५१३ ॥

लङ्कारूपी कामिनी के हृदय पर चमकीले तारों वाले हार के समान, शीतल एवं मनोहर जल से पूर्ण, महाबालुका नाम की, जन नेत्रों को आकर्षिक करने वाली सुन्दर नदी भूमध्य में बहती थी ॥ ५१३ ॥

तस्साविदूरसुचिरम्मतरे पदेसे ।
आयामतो मिततियोजनवित्थतेन ॥
चत्तारिगावुतमितं नयनाभिरामं ।
आसारसीतजलनिज्झरभूरिघोसं ॥ ५१४ ॥

उसके पास ही पवित्र एवं रमणीय प्रदेश में तीन योजन तक विस्तृत, चार गावुत[1] अर्थात् आठ मील चौड़ा, नयनाभिराम, शीतल जल वाले अनेक झरनों से युक्त—॥ ५१४ ॥

मत्तालिपाळिखगगीतजमिस्सरागं
सम्मत्तचित्तमिगसङ्घनिसेवितं तं ।
नच्चन्तनेकसिखिसङ्कुतपादपिन्दं[2] ।
उय्यानमा'सि उरुनागवनाभिधानं[3] ॥ ५१५ ॥

मत्त भ्रमरपंक्तियों एवं पक्षियों के गीतों से मिश्रित राग-वाला, नाना प्रकार के मत्त पशुसमूहों से सेवित तथा नाचते हुए अनेक मयूरों से युक्त वृक्षों वाला उरुनागवन नाम का उद्यान था ॥ ५१५ ॥

रम्मे तदा रतनदीपवरम्हि लङ्का-
लोकाभिधान-हरिकण्डक-यक्खदासे ।

---

१. गावुत—लगभग दो मील । (पाइंडि-गावुत)

२. सङ्कुतपादपिन्जं-ब० । ३. अभिरामं-ब० ।

ओदुम्बरे सुमनकूटक - तण्डुलेय्ये ।
सेलेसु मारगिरि-मिस्सक'-रिठ्ठनामे ॥ ५१६ ॥

तब उस रमणीय एवं रत्नद्वीप पर लङ्कालोक, हरिकण्डक, यक्खदास, ओदुम्बर, सुमनकूट, तण्डुलेय्य, मारगिरि, मिश्रक तथा अरिष्ट नामक पर्वतों पर—॥ ५१६ ॥

ये-ञ्ञेपि सन्ति गिरयो वनरामणेय्या ।
गङ्गा नदी गिरिगुहा सिकतातला च ॥
तत्था' वसन्ति रभसा फरुसातिरुद्दा ।
पाणातिपातनिरता सठकूटयक्खा ॥ ५१७ ॥

—तथा अन्य जो भी वनों में रमणीय पर्वत, नदी, नाले, पर्वतगुफा, बालूमय तट आदि थे, वहाँ भो कठोर, अत्यन्त भयङ्कर तथा प्राणिहिंसा में रत दुष्ट यक्ष आकर निवास करने लगे थे ॥ ५१७ ॥

सङ्गम्म ते महति नागवनह्मि तह्मि ।
सम्मन्तयिसु[1] सभटा सहपारिसज्जा[2] ॥
त्वं को'सि रे इति परो अपरं खरेन ।
तिक्खेन वादकणयेन[3] अरुन्तुदन्ता ॥ ५१८ ॥

उस बड़े नागवन में वे सभी अपने पारिषदों के साथ एकत्रित होकर तीक्ष्ण बातों के प्रहार से कष्ट देते हुए एक दूसरे से "तुम, कौन हो ?—ऐसा विचार करने लगे ॥ ५१८ ॥

कुञ्जिसु ते'थ इतरीतरकारणेन ।
वाक्येन युद्धपरिरद्धपगब्भितत्ता ॥
सङ्खोभितापगपतीव'नवट्ठ-चित्ता ।
सारम्भगब्बितमना परिरावयन्ति ॥ ५१९ ॥

---

१. सम्मंयिसु—ब० ।

२. सहपाकसञ्जा—रो० ।

३. वादकथयेन परित्तुदन्ता—ब० ।

वे परस्पर वाग्युद्ध में रत होने से प्रगल्भित मन से क्रोध करने लगे तथा क्षुब्ध सागर की भाँति अस्थिर-चित्त हो क्रोध पूर्ण मन से शोर करने लगे ॥ ५१९ ॥

तस्मिं खणे'भिमतदो सुगतो नभह्मि ।
आगम्म तेसमनुकम्पितमानसेन ॥
गोपानसीसममनोहररंसिमाली ।
तत्थ'च्छि खे गुणमणो मणिकण्णिका व ॥ ५२० ॥

तब (इच्छुकों को) इच्छानुसार देने वाले सुगत उनके ऊपर अनुकम्पायुक्त मन से आकाश की धरन के समान मनोहर किरण-समूहों से युक्त हो तथा गुणों रूपी मणि से युक्त मणिकर्णिका की भाँति आकाश में ही रुक गये ॥ ५२० ॥

तेसं जिनो कलहवूपसमाय हेतु ।
मापेसि वुट्ठितिमिरानिलसीहभीतिं ॥
तत्था'सि गज्जितघनो सुरचापखित्त-
धारासरेहि वितुदं निसिचारसङ्घं ॥ ५२१ ॥

उन यक्षों के कलह की शान्ति के लिए विजयी ने वृष्टि, अन्धकार, वायु तथा ठण्ड से भय उत्पन्न किया। उसमें गरजते मेघ तथा इन्द्रधनुष से प्रक्षिप्त तीरों की वर्षा से निशाचर आपस में टकरा रहे थे ॥ ५२१ ॥

अन्धा व ते घनतरे तिमिरे निमुग्गा ।
मूळ्हा दिसञ्च विदिसं न विदिंसु भीता ॥
चण्डानिलुद्धटमहागिरिकूटरुक्ख[1]-
सम्पातभीतरुदिता गतिमेसयन्ति ॥ ५२२ ॥

घने अन्धकार में निमग्न हो अन्धे के समान वे भ्रमित हो दिशाओं एवं विदिशाओं को भी नहीं जान पा रहे थे। भयङ्कर वायु से उखड़े महागिरि, शिखर तथा वृक्षों के गिरने से डरकर रोते हुए मार्ग ढूढ रहे थे ॥ ५२२ ॥

---

१. नीलद्धट .... रुक्खा-ब० ।

सीतेन ते अथ दिजे[1] परिकोटयन्ता
अञ्ञोञ्ञगत्तमवलम्ब परोदयिंसु ।
रूपानि नेकभयदानि[2] च घोसनानि
वत्तिसु तेन विविधं भयमासि[3] तेसं ॥५२३॥

वे ठण्ड से दाँतों को कटकटाते हुए परस्पर शरीर का सहारा लेकर रोने लगे। अनेक प्रकार से भयप्रद एवं डरावने रूप में हो गये। उससे उन्हें और भी भय लगने लगा ॥ ५२३ ॥

बुद्धापि पि दुक्खितमना परदुक्खकेन
कस्मा करोन्ति अनयं ति न चिन्तनीयं[4] ।
लोको हनाति विटपी फलदानहेतु
सत्थेन सोमरिपुगाहकवासरम्हि[5] ॥५२४॥

"दूसरों के दुःख से दुःखी होने वाले बुद्ध भी किसी को क्यों कष्ट दे रहे हैं?" ऐसा नहीं सोचना चाहिए, क्योंकि फल आने के लिए ही लोग चन्द्र ग्रहण के दिन शस्त्र से वृक्ष को काट देते हैं ॥ ५२४ ॥

सत्था ततो तमनुदो सभये ससोके
दिस्वान गुह्यकजने करुणायितत्तो ।
वुट्ठिं तमञ्च पवनं पनुदित्व सब्बं
देस्सेसि अत्तमखिलं दुमणीव खम्हि ॥५२५॥

तब शास्ता ने गुह्यक लोगों को भय एवं शोक में देखकर उन पर करुणापूर्ण मन से अन्धकार को मिटा दिया। उन्होंने वृष्टि, अन्धेरा, वायु इन सभी को मिटाकर स्वयं को सूर्य के समान आकाश में प्रदर्शित किया ॥ ५२५ ॥

---

१. द्विजे-ब० ।
२. ०जानि-ब ।
३. भयमानि-ब० ।
४. ०नीय्यं-ब ।
५. सो पि म रिपु-ब० ।

दिस्वान ते मुनिवरञ्जलिपङ्कजेहि
सज्जेत्व सीससरसी इदमब्रुविंसु ।
"याचाम नो' भयपदं भवतो सकासा
दासेसु धीर ! करुणं करणीयमेव ॥५२६॥"

मुनिश्रेष्ठ को देखकर वे (यक्ष) अपनी अञ्जलि रूपी कमलों से अपने सिर रूपी जलाशय को सजाकर ऐसा बोले—"आपके पास हम अभयपद की याचना करते हैं। धीर ! सेवकों पर करुणा करनी ही चाहिए" ॥ ५२६ ॥

एवं तदा'वच जिनो मधुरस्सरेन
आमन्त ते निसिचरे'वनते समेक्ख ।
"तुम्हे ददाथ यदि ठानममेकदेसं
सब्बे अपेन्ति घनवातजसीतदुक्खा" ॥५२७॥

तब उन यक्षों को अवनत देखकर विजयी ने बुलाकर मधुर स्वर में ऐसा कहा—तुम यदि मुझे एक स्थान दो तो सभी इस मेघ एवं वायु से उत्पन्न ठण्ड के दुःख से मुक्त हो जाओगे ॥ ५२७ ॥

"यज्जे व-मीति-मपयाति करोम भो तं
गण्हाहि धीर यदि इच्छसि सब्बदीपं" ।
वत्वान तेहि परिदिन्नछमायमग्गो
ओगम्म तत्थ पुथु पत्थरि चम्मखण्डं ॥५२८॥

"यदि इस प्रकार यह दुःख दूर हो जाए तो हम ऐसा करेंगे। हे धीर ! यदि इच्छा हो तो पूरा द्वीप ले लो।" ऐसा कहकर स्थान देने पर पुरुष श्रेष्ठ ने वहाँ एक विशाल चर्म खण्ड फैलाया ॥ ५२८ ॥

तस्मिं निसज्ज कसिणं समपज्ज तेजो-
जालाकुलं जलितमग्गिममापयो सो ।
सो धूमकेतु गगनुग्गततुङ्गसिङ्गो
सन्दड्ढयं गिरिवनानुरुघोसयन्तो ॥५२९॥

---

१. सकया–ब० ।

उस पर बैठकर उन्होंने तेजोकसिण[1] की भावना कर ज्वालासमूह से भरपूर, जलती हुई आग को उत्पन्न किया। आकाश तक पहुँचने वाली ऊँची लपटों से युक्त वह आग जंगलों तथा पर्वतों को जलाती हुई एवं तेज से कड़कती हुई—॥५२९॥

रुक्खेहि रुक्खवनपब्बतलङ्घनेन
साखामिगे च विहगे अनुबन्धयं व[2]।
वेस्सानरो वनमरु मिगसूकरे पि
सन्धावि गुह्यकजने इति चिन्तयन्तो ॥५३०॥

वृक्षों से होकर दूसरे वृक्षों, जंगलों, पर्वतों को लांघती हुई तथा बन्दरों, पक्षियों, वन देवताओं, मृगों एवं सूअरों को भी लपेटती हुई (वह आग) उन्हें भी यक्ष ही समझकर दौड़ पड़ी ॥ ५३० ॥

दिस्वान तत्थ पचुराततविप्फुलिङ्ग—
सम्मिस्सजालदहनं गुहका समेच्च।
धावुं विकिण्णकचवप्पजलद्दनेत्ता
दारत्तजेहि सहिता गतिमेसमाना ॥५३१॥

वहाँ प्रचुर मात्रा में विस्तृत चिनगारियों से युक्त ज्वाला के प्रज्ज्वलन को देखकर बिखरे बालों एवं गीले नेत्रों वाले यक्ष शरण खोजते हुए अपनी पत्नी एवं बच्चों के साथ भाग पड़े ॥ ५३१ ॥

सम्बुद्धतेजपरिदड्ढसरीरचित्ता
आहच्च सागरतटं परिधावमाना।
तस्मिम्पि ते पविसितुं सरणं न लद्धा
छम्भी ततो सपदि सन्निपतिंसु सब्बे[3] ॥५३२॥

सम्बुद्ध के तेज से जलते हुए चित्त एवं शरीर वाले यक्ष दौड़ते हुए समुद्रतट को प्राप्त कर उसमें भी प्रवेश हेतु शरण न पाकर भयातुर हो शीघ्र ही एक साथ गिर पड़े ॥ ५३२ ॥

---

१. तेजो कसिण—दस कसिणों तथा चालीस कर्मस्थानों में से एक, जिसको भावना करते समय साधक को अग्नि में निमित्त ग्रहण करना पड़ता है। (विसु० १३९)

२. च–ब०। ३. सद्धे–ब०।

दिस्वान ते मुनिवरो सभये ससोके
रम्मं तदा जलधिमज्झगतं महन्तं ।
इद्धीहि सेहि गिरिदीपमिधानयित्वा
आरोपयित्व निखिले पुन तत्थ'कासि ॥५३३॥

उस समय उन्हें भयभीत एवं शोकाकुल देखकर मुनिश्रेष्ठ ने अपनी ऋद्धियों के द्वारा समुद्र के मध्य महान् एवं रमणीय गिरिद्वीप को लाकर तथा सभी को उस पर आरोपित कर पुनः वहीं (यथा स्थान) कर दिया ॥ ५३३ ॥

हत्वे'वमेस-म-समो'पसमन्तमीतिं
तत्थेव भासुरतरो भगवा निसीदि ।
ब्रह्मामरासुरफणीगरुळादिसिद्धा
सङ्गम्म'कंसु महतिं महमग्गरूपं ॥५३४॥

इस प्रकार उनके विघ्नों को दूर कर अतुल एवं तेजस्वी भगवान् वहीं बैठे रहे। तब ब्रह्मा, असुर, देवता, नाग, गरुड़, सिद्ध आदि सभी ने एक साथ होकर वहाँ महान् उत्सव मनाया ॥ ५३४ ॥

देसेसि संसदि जिनो सुतिसाधुधम्मं
तस्मिं सदासवनुदं सिवदं जनानं ।
सुत्वान नेकसतकोटिपमाणपाणा
लद्धा तदा समभवुं वरधम्मचक्खुं ॥५३५॥

विजयी ने उस सभा में कर्णप्रिय, सदा आश्रवों का नाश करने वाले तथा लोगों के लिए कल्याणप्रद धर्म का उपदेश दिया, उसे सुनकर कई सौ करोड़ प्राणियों ने श्रेष्ठ धर्म रूपी नेत्र को प्राप्त किया ॥ ५३५ ॥

तस्मिं दिने सुमनकूटवराधिवासो
तेजिद्धिबुद्धिविभवो सुमनाभिधानो ।
देवो पसन्नहदयो रतनत्तयम्हि
सम्पापुणित्व पठमं फलमुत्तमं सो ॥५३६॥

उस दिन सुमनकूट[1] जैसे श्रेष्ठ आवास में रहने वाले तेज, ऋद्धि एवं बुद्धि रूपी धन से युक्त सुमन नामक देवता त्रिरत्न[2] में प्रसन्न चित्त हो प्रथम उत्तम फल[3] को प्राप्त हुए ॥ ५३६ ॥

उट्ठाय तुट्ठवदनो कतपञ्जलीको
मुग्गो जिन'ग्गनखरंसिपयोदधिम्हि ।
वन्दित्व एवमवचा—"तुल वीर धीर
लोकग्गपुग्गल वरं दद सामि धीश ॥५३७॥

तब प्रसन्न मुख सुमन उठकर अञ्जलि बांधकर भगवान् के चरणनखों की किरणों रूपी समुद्र में निमग्न हो वन्दना करके इस प्रकार बोले—"हे अतुल वीर ! धीर ! संसार के श्रेष्ठ पुरुष ! प्रज्ञाधीश ! स्वामी ! मुझे एक वरदान दीजिए ॥ ५३७ ॥

दासो'स्मि ते चरणपङ्कजपूजको'हं
सद्धादयादिविभवो तनयो'हमस्मि ।
तुम्हे विना खणलवं वसितुं न इच्छे
तस्मा ददातु भगवा मम पूजनीयं ॥५३८॥

मैं आपका सेवक हूँ, चरणों का पुजारी हूँ, श्रद्धा, दया आदि वैभवों से युक्त आपका पुत्र हूँ। आपके बिना मैं एक क्षण भी रहना नहीं चाहता। इसलिए हे भगवन् ! मेरे लिए कोई पूजनीय (वस्तु) दें ॥ ५३८ ॥

सुत्वान तं धितिमतो परिमज्ज सीसं
संसत्तछप्पदसरोरुहसन्निभेन ।
हत्थेन नीलसककुन्तलधातुमुट्ठिं
दज्जा'थ सो मणिमयेन करण्डकेन ॥५३९॥

धृतिमान् (तथागत) ने उसे सुनकर अपने सिर को सहलाया तथा भ्रमरों से घिरे कमल के समान अपने हाथ से अपने नीले केशधातु से भरी मुट्ठी दे दो। तब वह (सुमन) मणिमय पेटी में—॥ ५३९ ॥

---

१. सुमनकूट—लङ्का का एक पर्वत शिखर जो ग्रन्थ के नामकरण का आधार है ।

२. त्रिरत्न—बुद्ध, धर्म एवं संघ (पाइंडि-तिरतन)

३. प्रथम उत्तम फल—स्रोतापत्ति फल, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् अर्हत्व की प्राप्ति निश्चित हो जाती है ।

पग्गह्य बाहुयुगलेन ठितो नमित्वा
मुद्धा दधासि मकुटं विय पीणित'त्तो ।
कत्वा'थ सो वरमहं[1] तिदिवेहि सद्धि
अप्पेत्व धीरपरिभुत्तवसुन्धरायं ॥५४०॥

—अपने बाहुयुगल से पकड़कर नमस्कारपूर्वक स्थित हो, प्रसन्न मन से मुकुट के समान सिर से धारण किया। इसके अनन्तर तीनों लोकों के देवताओं के साथ श्रेष्ठ उत्सव मनाकर उसे धीरपुरुष द्वारा अधिकृत वसुन्धरा पर रखकर—॥ ५४० ॥

सो'कासि नीलरतनेहि महारहेहि[2]
उब्बेधतो रतनसत्तपमाणथूपं ।
नाथे धरन्तसमये'व पतिट्ठही सो
थूपो तिलोकसुखदो मणिकामदो व ॥५४१॥

—उसने बहुमूल्य नीलमणियों से ऊँचाई में सात रत्न[3] का स्तूप बनवाया। स्वामी के जीवन्तकाल में ही त्रैलोक्य के लिए सुखद कामद-मणि के समान वह स्तूप प्रतिष्ठित हो गया ॥ ५४१ ॥

पच्छा तिलोकसरणे परिनिब्बुतम्हि
खीणासवो समहिमो सरभूयतिन्दो ।
आदाय तं चितकितो जिनगीवधातुं
तस्मिं निधाय'करि बारसहत्थथूपं ॥५४२॥

बाद में त्रिलोक के शरण (बुद्ध) के परिनिर्वृत्त हो जाने पर क्षीणास्रव एवं महिमायुक्त सरभू नामक यतिश्रेष्ठ ने चिताकर्म के पश्चात् तथागत के ग्रीवाधातु को लाकर उसमें रखकर बारह हाथ ऊँचा स्तूप बनवाया ॥ ५४२ ॥

चूलाभयह्व'वनिपो समये'परस्मिं
वत्तिसहत्थमकरित्थ वरोरुथूपं ।
दुट्ठाहि-गामणिनुपो दमिके हनन्तो
कारेसि कञ्चुकमथो चतुसट्ठिहत्थं ॥५४३॥

---

१. महमहं–ब०, २. महिं–ब० ।
३. रतन = दे० गा० १५९ ।

दूसरे समय में चूलाभय नामक राजा ने बत्तीस हाथ ऊँचा स्तूप बनवाया। इसके बाद दमिलों[1] का नाश करते हुये राजा दुट्ठगामणि ने चौसठ हाथ ऊँचा इसका आवरण बनवाया ॥ ५४३ ॥

एवं स सीहलमहासरमज्झरूळ्ह—
सेतम्बुजं व मधुपावलिसेवनीयं।
भूमङ्गनाकरतले सितवित्थलीलो
भूपो ददातु-म-समोपसमं जनानं ॥५४४॥

इस प्रकार भ्रमरपंक्तियों के द्वारा सेवनीय लङ्कारूपी जलाशय में उत्पन्न श्वेत कमल के समान तथा पृथ्वी रूपी नायिका के करतल पर सफेद सुरापात्र के समान सुशोभित स्तूप लोगों को अनुपम शान्ति प्रदान करे ॥ ५४४ ॥

लङ्कोपसग्गमवधूय विधाय खेमं
लङ्कं निजाय वरकुन्तलधातुया तं।
कत्वान भासुरतरं मुनि मङ्गलाय
पायासि[2] तारकपथेनु' रुवेलमेव ॥५४५॥

लङ्का के संकट को दूर कर तथा कल्याण करके उसे अपने केशधातु से प्रभास्वर करके मुनि ने मङ्गलार्थ नक्षत्र-पथ से उरुवेला की ओर प्रस्थान किया ॥ ५४५ ॥

तस्मिं विधाय बहुविम्हित पाटिहेरं
भेत्वा ससिस्सकि'सिनो[3] पुन दिट्ठिजालं।
दत्वान निब्बुतिपदं सहसिस्सकस्स
निब्बानसुन्दरपुरं परिपूरयित्थ ॥५४६॥

वहाँ अनेक प्रकार से आश्चर्यजनक कृत्य करके शिष्यों सहित ऋषि ने उरुवेल-कस्सप के मिथ्या-दृष्टि के जाल को काटकर शिष्यसहित उन्हें निर्वृति पद प्रदान कर सुन्दर निर्वाण-नगर को भर दिया ॥ ५४६ ॥

---

१. दमिक—राजा दुट्ठगामणि ने सन् ९२-९३ में चूलाभय के समय में ही बत्तीस हाथ ऊँचे इस स्तूप का तमिलों द्वारा अनादर देखकर उन्हें युद्ध में हराकर वहीं चौसठ हाथ ऊँचा महास्तूप बनवाया। (महावंशटीका—४६८)।

२, पासि तारकपथे—ब० ३. ससिस्स रसिनो—ब०।

तम्हा विकासितकुसेसयकाननाभ—
वीतासवेहि निवुतो सुगतेभगामी ।
पायासि राजगहगामिमुदारमग्गं
वेनेय्यजन्तुकमलाकरभानुरूपो ॥५४७॥

वहाँ से विकसित कमल के झुरमुट के समान आश्रवहीनों से घिरे, हाथी की गति वाले, विनेय-जन रूपी कमल-समूह के लिए सूर्य के समान सुगत ने राजगृह की ओर जाने वाले उदार मार्ग से प्रस्थान किया ॥ ५४७ ॥

तस्मिं गते जिनवरे वर-बिम्बिसारो
पूजं अकासि महतिं सह देवताहि ।
तस्मिं हि संसदि लभिंसु अनप्पमाणा
मग्गे फले च सरणेसु[1] पतिट्ठहिंसु ॥५४८॥

महान् 'जिन' के वहाँ पहुँचने पर श्रेष्ठ बिम्बिसार ने देवताओं के साथ उनकी महती पूजा की। उस सभा में अपरिमाण जीवों ने मार्गों एवं फलों को प्राप्त किया तथा त्रिशरण में प्रतिष्ठित हुए ॥ ५४८ ॥

राजा ततो विपुल-वेळुवनाभिरामं
सालङ्कतं विविधपादपमण्डपेहि ।
पादासि दक्खिणकरे जलपातनेन
कत्वा धराधरधरं हिमवञ्च[2] कम्पं ॥५४९॥

तत्पश्चात् राजा बिम्बिसार ने विस्तृत एवं नाना प्रकार के वृक्षों से अलंकृत रमणीय वेलुवन को दाहिने हाथ में जल गिराते हुए तथा पर्वतों को धारण करने वाली पृथ्वी एवं हिमालय को कम्पित करते हुए दान में दे दिया ॥ ५४९ ॥

तस्मिं समन्तनयनो नयनाभिरामो
भूतिं जनस्स सततं अभिवड्ढयन्तो ।
धम्मम्बुवुट्ठिनिकरं परिवस्सयन्तो
वस्सं वसी अदुतियो दुतियम्हि वस्से ॥५५०॥

---

१. सरणे च-ब० २. हिमञ्च-ब० ।

उस (उद्यान) में समन्तचक्षु[1], नयनों के लिए आकर्षक, अद्वितीय जितेन्द्रिय तथागत ने जनकल्याण को निरन्तर वृद्धि करते हुए तथा धर्म रूपी जल की वर्षा करते हुए दूसरे वर्षाकाल में निवास किया ॥ ५५० ॥

देविन्दमौलिसमलङ्कतपादपिट्ठो[2]
लोकस्स अत्थचरणे सतताभियुत्तो ।
तत्थे'व सो हि ततिये पि चतुत्थवस्से
वासं अकासि सुगतो सिरिसन्निवासो ॥५५१॥

देवराज इन्द्र के मस्तक द्वारा भूषित हैं चरणाग्र जिनके, ऐसे श्री-निवास सुगत ने संसार के हितसम्पादन में निरन्तर तल्लीन रहते हुए वहीं तृतीय एवं चतुर्थ वर्षाकाल में निवास किया ॥ ५५१ ॥

लोकस्स धम्मममलं सततं वहन्तो
सावत्थियं रुचिर-जेतवने'भिरामे[3] ।
वासं अकासि सुखदो मुनि पञ्चवस्से[4]
वेनेय्यसत्तसमयं समुदिक्खमानो ॥५५२॥

इति लङ्काय पठमं गमनं ।

संसार के लिए विमल (अच्छे) धर्म को वहन करते हुए तथा विनेयजनों के लिए उचित समय को देखते हुए सुखदायी मुनि ने श्रावस्ती में रमणीय एवं सुन्दर जेतवन में पाँचवाँ वर्षावास किया ॥ ५५२ ॥

लङ्का में प्रथम आगमन पूर्ण ।

---

१. समन्तचक्षु–दे० गाथा ५६३ की टिप्पणी ।

२. पीठो–ब० । ३. वनाभि-ब० । ४. पञ्चमस्मिं-ब० ।

लङ्काय दुतियं गमनं

अथ भगवति तस्मिं जेतनामे वनस्मिं
निवसति सति लङ्का मङ्गलावासरूपा ।
उपवनमिव नाके नन्दनं देवतानं
अमर-उरगवासा रम्मरूपा बभूव[1] ॥५५३॥

इसके बाद भगवान के जेत नामक वन में निवास करते समय ही मङ्गलमय आवास के समान तथा स्वर्ग में देवताओं के नन्दन वन के समान देवताओं एवं नागों की निवास-स्थली लङ्का अत्यन्त रमणीय हो गयी ॥ ५५३ ॥

तहिमतिरुचिरस्मिं वड्ढमानासिसेले ।
मधुरसलिलवाहे रम्मकल्याणिकादो ॥
उदधिभुजगवासे नागदीपन्तिके च ।
महति महिमयुत्ता नागसङ्घा वसन्ति ॥ ५५४ ॥

वहाँ अत्यन्त रुचिकर वर्धमान आदि पर्वतों पर कल्याणिका जैसे रमणीय एवं मीठे जल वाली नदियों में तथा नागद्वीप के पास समुद्रीय नाग-आवास में गौरवशाली नागों का समूह निवास कर रहा था ॥५५४॥

पचुरमहिमयुत्तो वड्ढमानाचलस्मिं ।
अधिपति भुजगानं आसि चूळोदरह्वो ॥
महुदर इति नामो नागदीपोदधिह्मि[2] ।
निवसति; अथ तेसं पब्बतेय्यो'रगिन्दो ॥ ५५५ ॥

वर्धमान पर्वत पर अत्यन्त गौरवशाली नागों का राजा चूलोदर रहता था तथा नागद्वीप के समुद्र में महोदर नाम का नागराजा रहता था। तब उन पर्वतीय नागों के राजा (चूलोदर) ने—॥५५५॥

---

१. बभाव-रो० । २. धिस्मि-ब० ।

इतरभुजगरञ्ञो[1] धीतरं नागकञ्ञं ।
पियतरमभिरूपं'कासि भरियं तदा हि ॥
अथ च दुहितुया सो दीयमानं[2] ददन्तो ।
रुचिरमणिमयग्घं आसनञ्चाप'दासि ॥ ५५६ ॥

—दूसरे नागराजा (महोदर) की प्रियतर सुन्दरी पुत्री नागकन्या को अपनी पत्नी बनाया। उस समय पुत्री के लिए दान देते हुए महोदर ने सुन्दर मणियों के बने बहुमूल्य आसन को भी दे दिया ॥५५६॥

दुहितरि मतकाले ते'थ पल्लङ्कहेतु ।
जलजथलजनागा युद्धसञ्ञा अहेसुं ॥
अथ थलजभुजङ्गा भङ्गकल्लोलमाला-
सदिसलुलितचित्ता गब्बिते'वं रवन्ति ॥ ५५७ ॥

पुत्री की मृत्यु के समय आसन के लिए जल एवं स्थल में उत्पन्न नाग युद्ध की चेतना वाले हो गये। तब स्थल वाले नाग भग्न लहरों के समान विक्षिप्तचित्त हो गर्व के साथ शोर करने लगे ॥५५७॥

किमुदधिजफणीनं[3] कित्तिसम्पत्तिया नो ।
अपि यसपरिवारा किं बलेनि'द्धिया किं ॥
अहमहमिति गब्बा किं किमिस्साय तेसं ।
भवति तिमिर'रीनं भानुमग्गु'न्नती का ॥ ५५८ ॥

"समुद्र से उत्पन्न हुए नागों की हमारे सामने क्या यशसम्पत्ति है? क्या नाम (यश) है? क्या बल है और क्या ऋद्धि? 'मैं-मैं' ऐसा घमण्ड क्यों? उन्हें ईर्ष्या क्यों है? क्या शत्रु रूपी अंधेरा सूर्य के सामने उठ सकता है?" ॥५५८॥

अथ जलजलगद्दा गज्जनं गज्जयन्ता ।
भयजनकपगब्भा फोटयन्ता भुजानं ॥

१. इतिर० -ब० ।
२. दिय्य० -रो० ।
३. पणीनं-ब० ।

अहमह पभु रे रे पब्बतेय्यानमेतं ।
पटुतरडसितोट्ठा कवखले'वं रवन्ति ॥ ५५९ ॥

तब जलज नाग गर्जना करते हुए, भयङ्कर एवं प्रगल्भ फणों को फटकारते हुए तथा ओंठों को तेजी से चबाते हुए, निर्दय होकर "अरे-अरे ! हम तुमसे अधिक समर्थ हैं" ऐसा जोर-जोर से बोलने लगे ॥५५९॥

पतुतरगरुनादा ताव गज्जन्ति दन्ती ।
नयनपथमुपेन्ते याव कण्ठीरवानं ॥
तथ-रि-व थलनागा जुम्भयन्ता समग्गा ।
नयनपथगता नो सुञ्ञदप्पा भवन्ति ॥ ५६० ॥

तीव्रतर भयङ्कर आवाज वाले हाथी तभी तक गरजते हैं जब तक उनके नेत्रपथ में शेर नहीं आते । उसी प्रकार जंभाई लेते हुए सभी स्थलज नाग हमारी दृष्टि के मार्ग में आकर गर्वहीन हो जाते हैं ॥५६०॥

इति तदुभयसेना घट्टयन्त'ञ्ञमञ्ञं[1] ।
विविधपहरणेहा[2] उग्गिरन्ती गिरन्ति ॥
सततखुभितवेला सागरूमीव भन्ता ।
लुलितलुलितचित्ता युद्धनिन्ना ठिता'सुं ॥ ५६१ ॥

इस प्रकार आपस में टकराती हुई, नाना प्रकार की प्रहार की इच्छाओं से युक्त वाणी बोलती हुई उन दोनों की सेनाएँ, निरन्तर तटों को क्षुब्ध करने वाली समुद्र की लहरों की भांति भ्रमित होकर विक्षिप्तचित्त हो युद्ध में निमग्न हो गयीं ॥५६१॥

अथ तदहु मुनिन्दो यामिनीयाममन्ते ।
पटिनिय मतिजालं लोकमोलोकयन्तो ॥
समरवसगतानं भोगिनं भाविभोगं[3] ।
तदुपरि च'भिवुद्धिं पस्सि लङ्कातलस्स ॥ ५६२ ॥

---

१. यन्ताञ्ञ–सिं० । २. पहरनेसा–ब० । ३. भविञ्ञूतिं–ब० ।

उसी दिन मुनीन्द्र ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में अपने बुद्धिजाल को फैलाकर संसार को देखते हुए, युद्ध के वशीभूत नागों के भावी परिणाम को तथा उसके बाद लङ्कातल की समृद्धि को देखा ॥५६२॥

अथ मुनि मधुमासे'पोसथे कालपक्खे ।
कत निखिलविधानो गह्य सङ्घाटिकादिं ॥
अनुगतिकमुदिक्खं पञ्चनेत्तो[1] समन्ता ।
सुमन-सुमननामं पस्सि देवं समिद्धिं ॥ ५६३ ॥

तदनन्तर पञ्चनेत्र[2] मुनि ने चैत्र मास के कृष्णपक्ष में उपोसथ के दिन सम्पूर्ण उत्सव करके सङ्घाटि (चीवर) आदि लेकर चारों तरफ साथी ढूढ़ते हुए सुमन नाम वाले सहृदय समृद्धि-देवता को देखा ॥५६३॥

तदहु सुमनदेवो जेतनामे सुरम्मे ।
अधिवसति विहारे द्वारकोट्ठोपकट्ठे[3] ॥
ठितविटपिसमिद्धे खीरिकापादपस्मिं ।
सुगतमभिनमन्तो अन्वहं पूजयन्तो ॥ ५६४ ॥

उस समय सुमन देवता खड़े वृक्षों से समृद्ध, खजूर के वृक्षों से युक्त सुरम्य जेतवन विहार में प्रमुख द्वार के समीप प्रतिदिन सुगत की पूजा एवं अभिवादन करते हुए निवास करते थे ॥५६४॥

तमसममुनि[4] दिस्वा मन्तयित्वा'गते तं ।
इदमवच; "मया भो सद्धिमागच्छ लङ्कं ॥
सह तव भवनम्हा पुब्बवुत्थप्पदेसे ।
तव भवति पतिट्ठा भोगिनञ्चा'भिवुड्ढि ॥ ५६५ ॥

---

१. नेत्ता–ब० ।

२. पञ्चनेत्र—शारीरिकचक्षु, महामानवचक्षु, प्रज्ञाचक्षु, पूर्ण अन्तर्चक्षु तथा समन्तचक्षु (पाइंडि-पञ्चचक्खु) समन्तचक्षु, प्रज्ञाचक्षु, धर्मचक्षु तथा दो मांस चक्षु अभिधान अने० १४३) ।

३. कण्ठे–ब० । ४. मुनि–ब० ।

अनुपम मुनि ने उनको देखकर बुलाया तथा आने पर ऐसा कहा—"अरे! तुम मेरे साथ लङ्का चलो। तुम्हारे निवास से तुम्हारे द्वारा पूर्व में सेवित उस स्थान की प्रतिष्ठा होगी तथा नागों की समृद्धि भी। ५६५॥

अथ मुनिवचनं सो मुद्धना-म-ग्गहेत्वा।
पमुदितहदयो तं रुक्खमुद्धच्च मूला॥
सुगतमुपरिकत्वा धारयन्तो सुफुल्लं।
बरिहिबरिहिछत्ताकारमागा[1] नभम्हि॥ ५६६॥

तब मुनि के वचन को सुनकर उस (सुमन) ने सिर से धारण कर प्रसन्न मन से वृक्ष को जड़ से उखाड़कर सुगत के ऊपर किया तथा फैले हुए मयूर पंख के समान सुपुष्पित वृक्ष को लेकर आकाश में पहुँचा॥ ५६६॥

दसबलतनुभा'भिस्सङ्गमा सो दुमिन्दो।
तरलमणि व नाना'भाहि सम्भावनीयो[2]॥
विलसितमिव[3] सब्बे रुक्खसेलादयो पि।
अपगतसकवण्णा वण्णवन्ता विरेजुं॥ ५६७॥

दसबल[4] के शरीर से समीपता होने के कारण वह वृक्षराज तरल मणि के समान नाना प्रकार की शोभाओं से पूजनीय लगने लगा। जिनका अपना रंग मन्द पड़ गया था, ऐसे सभी वृक्ष और पर्वत रूपवान् हो जगमगाने लगे॥ ५६७॥

खगभुजगसुरादी मिस्सिता छप्पभाहि।
निजपतिनिजभरियास्वञ्ञमञ्ञा[5] सुमुह्युं॥
असितगगनमज्झे सोभमानो मुनिन्दो।
विततविविधरंसो रंसिमालीव गञ्छि[6]॥ ५६८॥

---

१. बहिरिवरिछत्ता–ब०। २. नीय्यो–ब०। ३. इव–सि०।

४. दस बल–रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच उपादानस्कन्धों के कारण एवं निरोध का ज्ञान (सं० नि० २५)।

५. निजपतिनिजजायास्व–सि०, निजभरियास्व–ब०।

६. गंजि–ब०।

छः प्रकार के तेजों से युक्त पक्षी, नाग और देवतागण अपने पति एवं अपनी भार्या को भूलकर एक दूसरे पर मुग्ध हो गये। मुनिश्रेष्ठ नीले आकाश के मध्य शोभित होते हुए विस्तृत किरणों वाले सूर्य के समान चल पड़े ॥ ५६८ ॥

जलदपटलसण्डे मज्झमुद्दालयित्वा।
बहिविलसितकायो सोम्मदोसाकरो व ॥
कतु'परितरुछायो जोतमानो समानो।
उरगसमरठानं गन्त्व'कासे निसज्ज ॥ ५६९ ॥

मेघपटल को बीच से तोड़ते हुए और बाहर से शोभित शरीर रूपी सौम्य चन्द्रमा के समान, ऊपर से वृक्ष की छाया किये हुए, प्रकाशमान हो, नागों की युद्धभूमि पर जाकर आकाश में ही बैठकर—॥ ५६९ ॥

घनतरतिमिरं सो इद्धिया सङ्करित्वा।
तहिमतिरवभीमं घोरसंरम्भवन्तं[1] ॥
असनिसतनिपातं वस्सधाराकरालं।
उरुतरततमेघं मापयी सीतवातं ॥ ५७० ॥

अपने ऋद्धि (-बल) से घना अंधेरा बनाकर सुगत ने वहाँ अत्यन्त शोरगुल के कारण भयङ्कर, भयानक क्रोध उत्पन्न करने वाले, सैकड़ों बिजलियों से युक्त, भयानक वृष्टिधारा वाले, ठण्डी हवा से युक्त विस्तृत मेघ का निर्माण किया ॥ ५७० ॥

इति तिभुवननाथो दप्पिते नागसङ्घे।
विमदकरणहेतु दस्सयी भेरवानि ॥
अथ'पगतपगब्भे ते विदित्वान सत्था।
अनुपदि भयजातं तङ्खणं येव तत्थ ॥ ५७१ ॥

इस प्रकार तीनों लोकों के स्वामी ने गर्वित नागसमूह को अहङ्कार हीन करने के उद्देश्य से भय का प्रदर्शन किया। तब उन्हें गर्वहीन जानकर शास्ता ने उसी क्षण भयसमूह को समाप्त कर दिया ॥ ५७१ ॥

---

१. वन्ति—ब०।

तरुणतरणिसोभाकेतुमालाविलासिं ।
सुभरुचिमुखचन्दं लक्खणाकिण्णगत्तं ।।
तिभवविभवदायिं तं विदित्वान नागा ।
चुतपहरणहत्था वन्दमाना महिंसु ।। ५७२ ।।

नवोदित सूर्य के समान किरणों रूपी माला से विभूषित, सुन्दर और रुचिकर मुख से चन्द्रमा के समान, विभिन्न लक्षणों से व्याप्त शरीर वाले, त्रैलोक्य को समृद्धि प्रदान करने वाले शास्ता को यथार्थ रूप में समझकर वे नाग जिनके हाथों से हथियार गिर रहे थे, वन्दना करते हुए पूजा करने लगे ।। ५७२ ।।

सिरसि निहितपाणीरत्तपङ्केरुहेहि ।
विकचवदननेत्तामन्दकञ्जुप्पलेहि ।।
सकसकधतनानावण्णवम्मादिकेहि ।
विविधकुसुवत्था[1]मन्ददीपद्धजेहि ।। ५७३ ।।

लाल कमल के समान अपने हाथों को सिर पर रखकर, विकसित मुख-कमलों तथा नेत्र रूपी नील कमलों से, स्वयं धारण किये हुए नाना वर्णों के कवचादिकों से, विविध प्रकार के पुष्पों एवं वस्त्रों से तथा विभिन्न दीपों और ध्वजाओं से (पूजा की) ।। ५७३ ।।

उरगभवनवासा नागकञ्ञा समेच्च ।
कुचकलससहस्सं धारयन्ती सलीलं ।।
ललितकणकवल्लीलीलमाधत्तगत्ता ।
थुतिमुखरमुखा ता साधुकीळं अकंसु ।। ५७४ ।।

नागभवनों से एक साथ आती हुई नागकन्याओं ने हजारों स्तनकलशों को लीलापूर्वक धारण करते हुए, शरीर से सुन्दर स्वर्ण-लता की लीला को धारण करते हुए तथा मुख से स्तुति करते हुए पवित्र उत्सव मनाया ।।५७४।।

---

१. ०वत्ता–ब० ।

अथ मुनि उरगानं विग्गहं तं समेतुं ।
सुतिमनकमनीयं निच्छरं ब्रह्मघोसं ॥
अजरममरमग्गं सुप्पसत्थं सुधीहि ।
बरमति वरधम्मं देसयी नं फणीनं ॥ ५७५ ॥

तत्पश्चात् नागों के उस कलह को मिटाने हेतु श्रेष्ठ बुद्धि वाले उस मुनि ने, श्रोत्र एवं मन के लिए कमनीय, उत्तम ध्वनि (ब्रह्मघोष) निकालते हुए, अजरता एवं अमरता के मार्ग तथा विद्वानों द्वारा प्रसंसित श्रेष्ठ धर्म का नागों को उपदेश दिया—॥५७५॥

न भो भो संसारे खलु भवति सारं लवमपि ।
विसे सातं सीतं जलितदहने विज्जति कदा ॥
सदा रागं रोगं व्यधति जनतं नेकदुरितं ।
तथा'पा'युं पातो रवि-र-भिमुखुस्सावसदिसं ॥ ५७६ ॥

अरे ! अरे ! संसार में किञ्चिन्मात्र भी सार नहीं है। विष में सुख और ज्वलित अंगार में शीतलता कहाँ ? काम, रोग और अनेक संकट जनता को सदा व्यथित करते हैं। जीवन सूर्य की ओर मुड़े सबेरे के ओस की तरह है ॥५७६॥

सरीरो'यं बत्तिसविधकुणपो साररहितो ।
परित्तं योब्बञ्ञं कुसुमसदिसं[1] निग्गतसिरी[2] ॥
पहन्त्वा गन्तब्बं भवजविभवं सम्भतमिदं ।
अथे'वं सन्ते भो अरयति भवं को नु हि बुधो ॥ ५७७ ॥

यह शरीर बत्तीस प्रकार के अवयवों[3] से युक्त शव (मुर्दे) के समान तथा सारविहीन है। सीमित यौवन शोभा हीन पुष्प के समान है। भवों से उत्पन्न इस वैभव को नष्ट हो जाना है। ऐसा होने पर भी अरे ! कौन बुद्धिमान् इस संसार को चुनेगा ? ॥५७७॥

---

१. सदिसा–ब० । २. सिरिं–ब० ।

३. बत्तीस अवयव—केश, रोम, नख, दाँत, त्वचा, मांस, नसें, अस्थि, अस्थिमज्जा, वृक्क, हृदय, यकृत, क्लोमर, पिहक, फुप्फुस, बड़ी आंत, छोटी आंत, उदर्य, विष्ठा, पित्त, कफ, पीब. खून, पसीना, मेदा, आंसू, बसा, थूक, नासामल, शरीर के जोड़ों को तरल रखने वाला पदार्थ, मूत्र और माथे का गूदा। (खु० पा० ३)

पलासी मक्खी कोधु'पहतमनो मानविभवो ।
जिनो'तीतो[1]'तो भो पयति नरकं दारुणतरं ॥
फणी मज्जारो सा गुहककपयो भूय बहुसो ।
बधेन्त'ञ्ञोञ्ञं ते मनु भवमिदं दुक्खमनिसं ॥ ५७८ ॥

एक ईर्ष्यालु, निर्दय, कोध से व्याप्त मन वाला, अभिमान की सम्पत्ति से युक्त (जीव) जब इस संसार का त्याग करता है तब वह घोर नरक में जाता है। वह सर्प, बिल्ली, यक्ष, बन्दर आदि बनकर आपस में एक दूसरे का हनन करता है। इस प्रकार यह संसार निश्चित रूप से प्रत्येक जन्म में अनवरत दुःख (का कारण) है ॥५७८॥

पुरे काकोलूका अथ वनभवा फन्दन-इसा ।
करित्वा'ट्ठाने'घं चिरमनुभवुं दुक्खमनिसं ॥
अहो कप्पट्ठन्तं सरथ दुरितं वेरजमिदं ।
न हे'त्थ'स्सादो भो'णुमपि कलहे मेत्ति-म-मतं ॥ ५७९ ॥

पूर्व (काल) में कौवे, उल्लू[2] तथा वन में उत्पन्न होने वाले स्पन्दन[3] वृक्ष एवं शेर ने अकारण पाप करके चिरकाल तक लगातार दुःख का अनुभव किया। अहो ! स्मरण करो ! घृणा से उत्पन्न यह पाप कल्पस्थायी होता है। कलह में थोड़ी सी भी सन्तुष्टि नहीं है जब कि मैत्री अमृत है ॥ ५७९ ॥

बलं बालानं भो अकसकवधाये'व भवति ।
अतीते'का खुद्दा लकुटिकदिजा नट्ठतनया ॥
गजं बालं मत्तं पवधि न बलं होति सरणं ।
अथ'ट्ठाने किं भो कुरुथ विरियं भूतिहननं ॥ ५८० ॥

---

१. अतं.ता-ब० ।

२. काक-उलूक—अट्ठान जातक (जापा० १७६)

३. स्पन्दन—स्पन्दन वृक्ष ने सिंह को तथा सिंह ने स्पन्दन वृक्ष को परस्पर झगड़ा करके मार डाला । (जापा० ४ फन्दनजातक)

मूर्खों की शक्ति उसी के नाश के लिए ही होती है। प्राचीन काल में छोटी मुर्गी[1] जिसका बच्चा मर गया था, ने एक मतवाले मूर्ख हाथी को मार डाला। केवल शक्ति कोई शरण नहीं है। अरे तुम लोग अस्थान में पराक्रम कर क्यों वैभव का नाश कर रहे हो ? ॥ ५८० ॥

न दुक्खं तेसं ये विगतकलहा एकमनसा।
अतीते भो लापा अघटितमना पेय्यवचना॥
सुखं वासं'कासुं यदहनि भवुं ते'थ विधुरा।
वसं ब्याधस्सागुं तदहनि अहो मेधगबलं॥ ५८१ ॥

जो कलहहीन तथा एक मति वाले हैं उनके लिए कोई दुःख नहीं है। प्राचीन-काल में कुछ प्रियंवद एवं कलहहीन मन वाले बटेर[2] बड़े सुख से रहते थे, किन्तु जिस दिन वे झगड़ालु बन गये उसी दिन वे व्याध के वश में हो गये। आश्चर्य है! कलह की ऐसी शक्ति है ? ॥५८१॥

इति तिखिणसुधीमा कत्तुमे'ते[3] समग्गे।
अवदि पवरधम्मं साधु विञ्ञुप्पसत्थं॥
अथ मुदितमना ते पीणिता तस्स नागा।
मणिमयमतुलं तं आसनं पूजयिंसु॥ ५८२ ॥

इस प्रकार तीक्ष्ण मति वाले (तथागत) ने उन्हें एकता में करने हेतु, बुद्धिमानों द्वारा प्रशंसित श्रेष्ठ धर्म को अच्छी तरह कहा। तब प्रसन्नचित्त नाग आनन्दित हो उस अनुपम मणिमय आसन की पूजा करने लगे ॥५८२॥

अथ मुनि गगनम्हो' रुह्य भूमिप्पदेसं।
तरुणरवि व तस्मिं आसने आसि भासं॥

---

१. लकुटिक—हाथी ने अभिमानवश चिड़िया की प्रार्थना नहीं सुनी। तथा उसके बच्चे को मार डाला। चिड़िया ने भी कौवे, मक्खी और मेढक की सहायता से हाथी को मार डाला। (जा० III लकुटिक जातक)

२. बटेर—जबतक बटेर एकमत रहे, चिड़ीमार उनका कुछ नहीं बिगाड़ सका, किन्तु मतभेद होते ही सभी उसके जाल में फँस गये। (जा० I सम्मोदमान जातक)

३. कत्तमेते–ब०।

अथ भुजगगणा ते दिब्ब-खज्जादिकेहि ।
परिविसिय मुनिन्दं साधु धम्मं सुणिंसु ।। ५८३ ।।

तत्पश्चात् मुनि आकाश से भूमिप्रदेश पर उतर कर बाल-सूर्य के समान उस आसन पर बैठ गये और भाषण करने लगे । उस समय वे नाग दिव्य खाद्यादिकों के साथ उनकी पूजा कर श्रेष्ठ धर्म को सुनने लगे ।।५८३।।

अथ जलथलजानं तत्थ युद्धागतानं ।
अगणितभुजगानं' सीतिकोटी भुजङ्गा ।।
विमल-सरणसीले सुप्पतिट्ठा सुतुट्ठा ।
अकरुम'ति-मु-ळारं सत्थुपूजाविधानं ।। ५८४ ।।

तब युद्ध में आए जलज एवं स्थलज असंख्य नागों में अस्सी कोटि नागों ने स्वच्छ शरण रूपी शील पर प्रतिष्ठित हो, सन्तुष्ट होकर शास्ता की पूजा करते हुए अत्यन्त महान् उत्सव किया ।।५८४।।

अथ महुदररञ्ञो मातुलो नागराजा
मणिनयनकनामो रम्मकल्याणिदेसा ।
उरगसमरहेतू आगतो नागदीपं
सुगतवरसरीरं दिस्व नत्वा' लपे' वं' ।। ५८५ ।।

इसके अन्तर नागयुद्ध के लिए रमणीय कल्याणी प्रदेश से नागद्वीप में आए महोदर राजा का मामा मणिनयनक नामक नागराजा सुगत के महान् शरीर को देखकर नमस्कार कर ऐसा बोला—।।५८५।।

"यदि सुगत इमं त्वं नागतो अस्स ठानं ।
मयमपगतपाणा होम ञत्व[2]'ञ्ञमञ्ञं ।।
रुधिरवहविकिण्णो अस्स भूमिप्पदेसो ।
पसमि दहनदित्तं अम्बुदेनेव तं त्वं ।।५८६।।

---

१. लपेयं–सिं० ।

२. ञत्वा–सिं० ।

"हे सुगत ! यदि तुम इस स्थान पर नहीं आए होंते तो हम सभी एक दूसरे को मारकर प्राणविहीन हो जाते। यह भूभाग रक्तप्रवाह से व्याप्त हो जाता, किन्तु तुमने इसे शान्त कर दिया, जैसे मानों जलती आग को बादल के द्वारा शान्त कर दिया हो ॥५८६॥

मम भगव पुरा मे दिट्ठपुब्बं तवे' तं।
रुचिरसिरिसरीरं रंसिजालाभिकिण्णं॥
अपि सुमधुरधम्मं देसयन्ते सुरानं।
दसबलसुतपुब्बं आनुभावञ्च तुय्हं॥५८७॥

भगवन् ! मैंने पहले भी आपके इस अदृष्टपूर्व, तेजस्वी किरण जालों से व्याप्त, रुचिकर, शोभायुक्त शरीर को देखा है। हे दसबल ! देवताओं को उपदेश देते समय आपके मधुर धर्म को एवं आपकी महत्ता को पहले भी सुना है ॥५८७॥

अहमसम पुरे ते विस्सुतो ये'व दासो।
यदि मनसि दया ते होति दासे पुना पि॥
पवर-रतनदीपे होति कल्याणिगङ्गा।
मम वसति तहिं तं दट्ठुकामो'भियाचे॥५८८॥

हे अतुलनीय ! तुम्हारे दास के रूप में मैं नगर में विख्यात हूँ। यदि तुम्हारे मन में दास के प्रति फिर से दया है तो श्रेष्ठ रत्नद्वीप में कल्याणी नदी में मेरा निवास है, वहाँ आपके दर्शन की याचना करता हूँ ॥५८८॥

इति यतिपति तस्साराधनं पग्गहेत्वा।
सकपरिचितभूम्या चेतिय'त्थं विधाय॥
मणिमयपरिभुत्तं आसनं चापि तेसं।
स सुमनतरुराजं पूजनत्थं विधाय॥५८९॥

इस प्रकार ऋषिराज ने उसकी आराधना को स्वीकार कर अपनी परिचित भूमि को पवित्र करने हेतु, मणिमय उपभुक्त आसन को एवं वृक्षराज को पूजनार्थ उन्हें (नागों को) दे दिया ॥५८९।

"दसबलपरिभुत्तं सब्बमेतं भुजङ्गा।
मणि-रि-व रुचिदं ते धातुयो ये-व तस्मा॥
महथ नमथ निच्चं मं व सग्गापवग्गं।
ददति" इति च वत्वा ओवदित्वान सत्था॥५९०॥

"ये सभी दलबल द्वारा परिभुक्त हैं। ये धातुएं तुम्हारे लिए कामद मणि के समान हैं। मेरे समान ही नित्य इसकी पूजा करो, नमस्कार करो। ये तुम्हें स्वर्ग एवं मोक्ष (निर्वाण) देने वाले हैं।" ऐसा कहकर भगवान्—॥५९०॥

नभतलमुपगन्त्वा देवनागे महन्ते।
दिसि दिसि विसरन्तो नीलपीतादिरंसी॥
मननयनहरन्तो जन्तुनं लोकसारो।
अगमि रवि व खम्हा जेतनामं विहारं॥५९१॥

जब तक देवतागण तथा नाग पूजा करते तब तक संसार के एकमात्र सार (तथागत) आकाशतल में जाकर वहां से प्रत्येक दिशाओं में नीली-पीली आदि किरणों को बिखेरते हुए तथा प्राणियों के मन एवं नेत्रों को आकर्षित करते हुए आकाश-मार्ग से सूर्य के समान जेत नामक विहार में पहुँचे॥५९१॥

अथ मनुज'मरानं'नन्तसिद्धादिकानं।
सततममतधम्मं देसयन्तो फणीनं॥
वनभवनसुरम्मे मङ्कुलह्वे नगिन्दे।
अकरि मुनि निवासं छट्ठमे हायनम्हि॥५९२॥

इसके अनन्तर अनन्त मनुष्यों, देवताओं, सिद्धादिकों, नागों आदि को निरन्तर अमृतधर्म की देशना करते हुए मुनि ने मङ्कुल[1] नामक पर्वतराज पर सुरम्य वन-भवन में छठे वर्षाकाल में निवास किया॥५९२॥

सुरपुर'पवने'थो पारिजातस्स मूले।
अरुणमुदुसिलायं[2] भासमानो मुनिन्दो॥

---

१. मङ्कुल—एक पर्वत, जिसके वन भवन में तथागत ने छठा वर्षावास किया। (मलल-मङ्कुलपब्बत)।

२. सिलानं—ब०।

सुनिपुणमभिधम्मं देसयन्तो सुरानं ।
अकरि वरनिवासं सत्तमे तत्थ वाहे[1] ॥५९३॥

देवनगर के उपवन में पारिजात के मूल में लाल एवं कोमल शिलातल पर भाषण करते हुए तथा देवताओं को परिपक्व अभिधर्म की देशना करते हुए मुनिराज ने सप्तम वर्ष में श्रेष्ठ निवास किया ॥५९३॥

अथ सुखद-मुनिन्दो जेतनामे विहारे ।
अवसि विमलपञ्ञो[2] अट्ठमे सारदस्मिं ॥
अजरममरसन्ति एसमानो परेसं ।
विविधनयविचित्तं देसनं देसयन्तो ॥५९४॥

इति लङ्काय दुतियं गमनं

तत्पश्चात् विमलप्रज्ञ, सुखदायी, मुनिश्रेष्ठ ने आठवें शरत्काल में अजर-अमर शान्ति की खोज करते हुए तथा दूसरों को विविध नियमों से युक्त उपदेश देते हुए जेत नामक विहार में निवास किया ॥५९४॥

द्वितीय लङ्कागमन पूर्ण ॥

---

१. वस्से–सिं० । २. निमल–ब० ।

लङ्काय ततियं गमनं

एवं जिनो जेतवने वसन्तो ।
निस्साय सावत्थिपुरं विहासि ॥
सा कीदिसी आसि पुरी तदानी ।
तं कीदिसं जेतवनं विहारं ॥५९५॥

इस प्रकार श्रावस्ती के पास जेतवन में रहते हुए विजयी ने समय बिताया। वह श्रावस्ती नगर कैसा था ? वह जेतवन विहार कैसा था ? (अब इसका वर्णन करेंगे ॥५९५॥

भूमङ्गनायाहितउत्तमङ्गे ।
भासन्तनानारतनाभिरामा ॥
विसालमोली व विसालभोगा ।
सा जम्बुदीपम्हि बभूव रम्मा ॥५९६॥

विशाल भोगों से युक्त वह नगरी जम्बूद्वीप में, किसी कामिनी के सिर पर लगे देदीप्यमान नाना रत्नों से रमणीय, विशाल मुकुट की भाँति अत्यन्त रमणीय थी ॥५९६॥

सिरीनिकेते सिरिमावहन्ती ।
विराजते या वसुधातलस्मिं ॥
सा देवराजस्स'मरावती व ।
रञ्ञो कुबेरस्स'लका व रम्मा ॥५९७॥

सौन्दर्य के निवास को भी शोभायमान करती हुई जो नगरी पृथ्वीतल पर देवराज (इन्द्र) की अमरावती तथा कुबेर की अलका पुरी के समान रमणीय हो सुशोभित हो रही थी ॥५९७॥

सा पुञ्ञपञ्ञालुजना'धिवुट्ठा ।
सोण्णादिपुण्णापनकिण्णवीथी ॥

उत्तुङ्गमातङ्गतुरङ्गरङ्गा ।
सा राजते कञ्चनमन्दिराली ॥५९८॥

पुण्यवान् एवं प्रज्ञालु लोगों से भरी, स्वर्ण आदि से पूर्ण दुकानों से युक्त गलियों वाली तथा ऊँचे घोड़ों एवं हाथियों वाले रङ्गशाला से युक्त एवं स्वर्णिम महलों से सुशोभित थी ॥५९८॥

रराज सा भासुरराजपुत्ता ।
पुञ्ञङ्गनालासविलासयन्ती ॥
वेदङ्गपारङ्गतविप्पचारा ।
द्विपञ्चसद्देहि च निच्चघोसा ॥५९९॥

वह (नगरी) देदीप्यमान राजकुमारों से युक्त, पुण्यावती अङ्गनाओं की क्रीडाओं से भरी, वेद-वेदाङ्गों में पारङ्गत विप्रों के विचरण वाली तथा दस प्रकार के शब्दों[1] से नित्य शब्दायमान हो सुशोभित होती थी ॥५९९॥

अनेकसिप्पीसतसम्पकिण्णा ।
नानादिसाहा'गतसत्थवाहा ॥
पहूतखीणासवपादपूता ।
बभास सा मङ्गलमन्दिरं व ॥६००॥

सैकड़ों शिल्पियों से भरी, नाना दिशाओं से आए सारथियों से युक्त, बहुत क्षीणास्रवों के चरणों से पवित्र वह नगरी कल्याण के भवन के समान थी ॥६००॥

भवन्तरे यो चरियं चरन्तो ।
सुवो' पनिस्साय वसं गुणेन ॥
यञ्ञङ्गसाखि मतसीनपत्तं ।
अका समिद्धं फलपल्लवेहि ॥६०१॥

---

१. दस शब्द = हत्थिसद्दं अस्ससद्दं भेरिसङ्खरथानि च ।खादथ पिवथ चे'व अन्नपानेन घोसितं' ति (जा० १)

एक पूर्व-जन्म में बोधिसत्त्व ने चर्या करते हुए तोते[1] के रूप में जन्म लेकर सूखे एवं पत्रविहीन गूलर वृक्ष की शाखा पर रहते हुए अपने गुण से (उन्होंने) उसे फलों एवं पल्लवों से समृद्ध किया ॥६०१॥

इदानि पत्वान भवस्स अन्तं ।
निस्साय यं सो वसते मुनिन्दो ॥
तस्सा गुणं को हि असेसयित्वा ।
कथेति सा'व'स्सु'पमाय तस्सा ॥६०२॥

सम्प्रति भव (सागर) का अन्त पाकर वे श्रेष्ठ मुनि जिस नगरी में निवास कर रहे थे, उसके सम्पूर्ण गुणों को कौन कह सकता है ? उसकी उपमा स्वयं वही है ॥६०२॥

तस्सोपकट्ठे रतनं'व'नग्घं ।
मनोहरो उत्तमसत्तसेवी ॥
जनानमाकङ्खितदो विहारो ।
बभूव जेतादिवनह्वयेन ॥६०३॥

उसी के पास अमूल्य रत्न के समान मनोहर, प्राणियों का उत्तम सेवक, लोगों की इच्छा पूर्ण करने वाला जेतवन नाम का विहार था ॥६०३॥

सम्फुल्लपुप्फ[2]रसमोदितछप्पदाली-
झङ्कारनादपरिवादिततन्तिनादा ॥
सम्मत्त'नन्तदिजकूजितगीतवन्ता ।
तिट्ठन्ति यत्थ तरवो नटका व छेका ॥६०४॥

जहाँ पुष्पित पुष्पों के पराग से मुग्ध भ्रमर-पंक्तियों के झङ्कार-स्वर से निःसृत (वीणा) तार के स्वरों से युक्त तथा अनेक प्रकार के मस्त पक्षियों के कूजन से गीत युक्त वृक्ष चतुर नर्तक की भाँति खड़े थे ॥६०४॥

---

१. तोता—हरे पत्तों एवं फलों से हीन हो जाने पर भी तोते ने वृक्ष का साथ नहीं छोड़ा और शक्र के वरदान से अन्त में उसे हरा-भरा बना दिया (जा हि० महासुकजातक)

२. फुप्फ-रो० ।

खीरण्णवा'हरिय धोविय खीरनीरा ।
सोसेत्व सज्झुमलये ससिकन्तिमिस्सं ॥
यत्थो'किरित्व तनिता विय वालुकायो ।
सा मालकावलि बभास पयोदधीव ॥६०५॥

जहाँ क्षीरसागर से लाकर दूध रूपी जल से धोए हुए, रजत-पर्वत पर सुखाए गये तथा चन्द्रमा की कान्ति से मिश्रित बालू छींटकर फैला दिये गये हों, ऐसी बाड़ों की पंक्तियाँ क्षीरसागर की भाँति सुशोभित थीं ॥६०५॥

विज्जोतमानरतनप्पमुखाननम्हि ।
सोपानमालपदगण्ठिदुजेहि हासं[1] ॥
कत्वे'व देवभवनानम'हं विराग-
वन्तो'ति गन्धकुटि यत्थ पभासयित्थ ॥६०६॥

जहाँ देदीप्यमान प्रमुख रत्नों से युक्त द्वार (दूसरे पक्ष में मुख) पर, सीढ़ियों की पंक्ति रूपी दाँतों से मानों देवभवनों का उपहास करके "मैं (देवलोक के प्रति) आसक्तिहीन हूँ" (ऐसा मानने वाली) गन्धकुटी सुशोभित थी ॥६०६॥

कम्मारगग्गरिमुखोपरिसम्पपुण्ण[2]-
अङ्गारकन्तरविनिग्गतजालका व ॥
सम्बुद्धदेहपरिनिग्गतरंसिमाला ।
दायग्गिनिग्गतकरा विचरन्ति यस्मिं ॥६०७॥

जिस विहार में लुहार को भाथी के मुख पर भरे हुए अंगार से निकली चिन-गारियों की भाँति अथवा दावाग्नि से निकली किरणों की भाँति सम्बुद्ध के शरीर से निकली रश्मिमालाएं फैल रही थीं ॥६०७॥

"तुम्हे सरागजनसङ्गमतो'तिहीना ।
धञ्ञा मयं ति विमलेहि समङ्गितत्ता" ॥

---

१. भासं–ब० ।
२. पुण्णा–सिं० ।

तुट्ठा'वहासमकरु'[1] सुरपादपानं ।
राजेन्ति यत्थ यतिनिस्सतपादपिन्दा ॥६०८॥

"तुम लोग रागयुक्त जनों के साथ होने से हीन हो, जब कि हम मलहीनों से युक्त होने से धन्य हैं" इस प्रकार सतुष्ट हो देववृक्षों का उपहास करने वाले, ऋषि-सेवित वृक्षराज जहाँ सदा सुशोभित हैं ॥६०८॥

पुन्नागनीपवकुलज्जुनराजरुक्ख-
नागागचूतयुगपत्तकचम्पकानं ॥
पुप्फाभिकिण्णधरणी रतनेहि नाना ।
पच्छन्नदिब्बभवनं विय भाति यत्थ ॥६०९॥

जहाँ पुन्नाग (वृक्षश्रेष्ठ), नीप (कदम्ब), मोसरी, कौपीतक, राजवृक्ष (चतुरङ्गुल प्रमाण एक वृक्ष), नागकेसर, आम, कचनार, और हेमवर्ण पुष्पों से व्याप्त पृथ्वी, नाना रत्नों से ढके दिव्य भवन के समान शोभायमान थी ॥६०९॥

ब्रह्मासुरासुरनरोरगलिङ्गिसिद्ध- ।
विज्जाधरादिजनताकतवन्दनेहि ॥
तेहे'व घुट्ठथुतिमङ्गलगीतिकाहि ।
यत्थोपसान[2]-मननेत्तगणा मुदेन्ति ॥६१०॥

जहाँ ब्रह्मा, सुरों, असुरों, मनुष्यों, नागों, लिङ्गियों (ब्राह्मण साधुओं) सिद्धों, विद्याधरों आदि के द्वारा किये गए वन्दनों तथा उन्हीं के द्वारा गाई गई मङ्गल-स्तुतियों तथा गीतों से अभ्यागतों के मन एवं नेत्र आनदिन्त होते हैं ॥६१०॥

निग्घोसितामलसुसीतलनिज्झरेहि ।
सम्मत्तनेकदिजघुट्ठजलासयेहि ॥
किञ्जक्खपत्तपरिकिण्णसिलातलेहि ।
तुस्सन्ति यत्थ सततं यतिनं मनानि ॥६११॥

---

१. अकरुं–सिं० ।
२. उपगान–ब० ।

जहाँ पर स्वरित, स्वच्छ एवं शीतल झरनों से; अनेक मस्त पक्षियों द्वारा गुंजित जलाशयों से तथा कमल के तन्तुओं एवं पत्तों से व्याप्त शिलातलों से ऋषियों के मन निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं ।।६११।।

यो नेककप्पसतसञ्चितपुञ्ञरासी[1] ।
हित्वा मितं कपिलवत्थुमहासिरिम्पि ।।
आगम्म यत्थ निरतो सुगतो महेसी ।
को तत्थ भूतिमतुलं[2] कथिको कथेति ।।६१२।।

अनेक सौ कल्पों में सञ्चित पुण्यराशि को तथा कपिलवस्तु के अन्यून महावैभव को भी छोड़कर महर्षि सुगत जहाँ आकर लीन हो गये, वहाँ के अतुल ऐश्वर्य को कौन कहने वाला कह सकता है ।।६१२।।

तस्मिं जिनो वसति जेतवने विहारे ।
इन्दो यथा रुचिर-नन्दनकाननम्हि ।।
ब्रह्मा व ब्रह्मभवने सपितामहेहि ।
तारावलीपरिवुतो गगने व चन्दो ।।६१३।।

उस जेतवन में विजयी उसी प्रकार निवास कर रहे थे, जिस प्रकार सुन्दर नन्दन वन में इन्द्र, ब्रह्म भवन में पितामह के साथ ब्रह्मा तथा तारागणों से घिरे आकाश में चन्द्रमा ।।६१३।।

तदा'गम्म महानागो मणि अक्खिकनामको ।
लङ्कातो जिनपादस्मिं फणिं पच्चेदम[3] ब्रुवि ।।६१४।।

उस समय मणि-अक्खक नामक महानाग लङ्का से आकर विजयी के चरणों में नागों के विषय में इस प्रकार बोला ।।६१४।।

सम्बुद्धा धीर लोकस्मिं लोकस्सत्थाभिवुद्धिया ।
जायन्ति सामि तुम्हाकं दयाय'न्तोगधा मयं ।।६१५।।

---

१. रासि–ब० । २. भूमि–सि० । ३. पच्चोद–ब० ।

"धीर ! (इस) लोक में सम्बुद्ध संसार की अभिवृद्धि के लिए उत्पन्न होते हैं। स्वामी ! हम आपकी दया के वशीभूत हैं ॥६१५॥

तेन मे दासभूतस्स संसार'न्दुधरा थिरा।
मुत्ति यदि'च्छसे मह्यं गहनीयं निमन्तणं ॥६१६॥

अतः हे स्वामी ! यदि आपके दासभूत मेरी इस संसार रूपी स्थिर कारागार से मुक्ति चाहते हो तो मेरा निमन्त्रण स्वीकार्य हो ॥६१६॥

सुत्वान तं महानागो महानागनिमन्तणं।
पटिग्गहेसि तं तुण्हीभावेन करुणाय सो ॥६१७॥

महानाग के इस निमन्त्रण को महानाग[1] ने करुणावश तूष्णीभाव से स्वीकार किया ॥६१७॥

ञत्वा तं सुमनो नागो लहुमागम्म सीहलं।
कल्याणापगपस्सम्हि मनोनन्दनभूतले ॥६१८॥

यह जानकर प्रसन्नचित्त नाग शीघ्र ही लङ्का आकर कल्याणी नदी के बगल में ही मनोरम भूमि पर ॥६१८॥

सज्झुकम्बुमणीमुत्तपवालवजिरामये।
महारहे महाथूने घटकादिं[2] निधापिय ॥६१९॥

चाँदी, सोने, मणि, मोती प्रवाल (मूँगा) तथा वज्र के बने बहुमूल्य महास्तम्भ पर घट आदि रखवाकर ॥६१९॥

दत्वा तुलादयो सेसमङ्गिरङ्गे तथे'व च।
विटङ्कव्यालसीहादि पन्तियो[3] पि तथे'व हि ॥६२०॥

छत के लिए शहतीर आदि तथा भवन के अन्य अङ्गों को देकर इसी प्रकार मीनारें तथा सर्प, आदि की पंक्तियाँ भी देकर ॥६२०॥

---

१. महानाग-महान-लोगों में भी श्रेष्ठ (सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः) (अमर ३।१।५९)

२. आदि-ब०। ३. वितङ्ग-ब०।

सातकुम्भमयानेकचित्तेहि साधु चित्तितं ।
निम्माय गोपानसियो पक्खपासे च कण्णिकं ॥६२१॥

अनेक प्रकार के स्वर्णिम चित्रों से अच्छी तरह चित्रित धरनों, छत के लिए तख्तों एवं पाख की शिराओं को बनाकर ॥६२१॥

सिङ्गीनिक्खेन सिङ्गञ्च छदनि'न्दमणीहि च ।
सोण्णकिङ्किणिमालायो कण्णमाला च मापिय ॥६२२॥

पीले स्वर्ण से मीनार, इन्द्रनील मणि से छत तथा स्वर्णिम किङ्किणियों से युक्त बाड़ बनाकर ॥६२२॥

चित्तवितानं बन्धित्वा मुत्तोलम्बे तहिं तहिं ।
कत्वान गन्धदामेहि पुप्फदामेहि सङ्कुलं ॥६२३॥

यहाँ-वहाँ मोती लटके चित्रित वितानों को बाँधकर तथा गन्धमालाओं एवं पुष्पमालाओं से व्याप्त करके ॥६२३॥

इन्दनीलमयं भूमिमज्झे'नग्घमहासनं ।
मापेसि परितो सेसभिक्खूनञ्च सुभासने ॥६२४॥

भूमि के मध्य में इन्द्रनीलमणि से युक्त अमूल्य महा-आसन तथा चारों ओर शेष भिक्षुओं के लिए शुभ-आसनों का निर्माण किया ॥६२४॥

रतनेहे'वा पस्सये वेदिका फळिकामये ।
मुत्तावालुकसङ्किण्णं मालकञ्च मनोरमे ॥६२५॥

रत्नों से वेदिका, स्फटिक से जंगले तथा मुक्ता रूपी बालुओं से संकीर्ण मनोरम बाड़ ॥६२५॥

सत्तरतनसम्भूततोरणूपरितोरणे ।
सन्नीरकुसुमाकिण्णहाटकादिघटाकुलं ॥६२६॥

सात रत्नों से बने तोरणों के ऊपर तोरण तथा नारियल के पुष्पों से व्याप्त स्वर्णिम घटादिकों से युक्त ॥६१६॥

नेकरागद्धजाकिण्णवितानसमलङ्कतं[1] ।
दीपधूपालिसङ्किण्णगन्धपुप्फसमाकुलं ॥६२७॥

अनेक प्रकार के रंगों वाले ध्वजाओं से युक्त वितान से सुशोभित, दीपों, धूपों से सङ्कीर्ण तथा सुगन्धित पुष्पों से भरे हुए ॥६२७॥

एवमादीहि नेकेहि वण्णेहि समलङ्कतं ।
मापेत्वा मण्डपं सेट्ठं देवमण्डपसन्निभं ॥६२८॥

इसी प्रकार कई रंगों से समलङ्कृत देवमण्डपतुल्य श्रेष्ठ मण्डप का निर्माण कर ॥६२८॥

सीतबालुकसञ्छन्नं[2] मुदुपच्चत्थरत्थतं[3] ।
मापेत्वे'वं महामग्गं सुरञ्जससमञ्जसं ॥६२९॥

श्वेत बालुओं से बने, कोमल आस्तरण बिछाए हुए, देवताओं के मार्ग जैसे महामार्ग का निर्माण कर ॥ ६२९॥

सञ्चिनित्वान ते नागा खज्जभोज्जफलाफले ।
दिब्बन्नपाने पचुरे पटिमग्गमगमुं[4] तदा ॥६३०॥

वे नाग प्रचुर मात्रा में खाद्य तथा भोज्य, फल एवं फलेतर वस्तुएं तथा दिव्य अन्न-पान एकत्रित कर उस समय मार्ग की ओर पहुँचे ॥६३०॥

ततो कारुणिको नाथो बोधितो अट्ठमे समे ।
वेसाखपुण्णमासिम्हि सन्निपातिय सावके ॥६३१॥

तब करुणामय स्वामी ने बोधि प्राप्ति से आठवें वर्ष में बैशाख मास की पूर्णिमा के दिन अपने शिष्यों को बुलाकर (कहा) ॥६३१॥

''एथ'ज्ज भिक्खवो लङ्कं नागानं'नुग्गहाय भो ।
मणिअक्खिको निमन्तेसि पसन्नो बुद्धसासने ॥६३२॥

---

१. वितानं–ब० । २. सञ्छुण्णं–ब० । ३. ब० मुदुपच्छत्तरत्ततं–ब०; मुदुपादपदत्थटं–सिं० ।
४. मग्गं गमुं–सिं० ।

"भिक्षुओ ! आज नागों पर अनुकम्पा करके लङ्का चलो। प्रसन्न मणिअक्खिक ने बुद्धसङ्घ को आमन्त्रित किया है ॥६३२॥"

सुत्वान वचनं तस्स सम्बुद्धस्स सिरीमतो ।
अस्सवा पेसला भिक्खू पच्चस्सोसुं समाहिता ॥६३३॥

श्रीमान् सम्बुद्ध को उस बात को सुनकर मनोयोगी तथा सरल हृदय भिक्षुओं ने एकाग्र हो अनुमोदन किया ॥६३३॥

सारिपुत्तो ततो थेरो पञ्ञाय'ग्गधुरन्धरो ।
पत्तचीवरमादाय सो'गमा जिनु'पन्तिकं[1] ॥६३४॥

उस समय प्रज्ञा में श्रेष्ठ, धुरन्धर, सारिपुत्र स्थविर पात्र-चीवर लेकर विजयी के पास पहुँचे ॥६३४॥

मोग्गल्लानो महाथेरो दुतियो अग्गसावको ।
पत्तचीवरमादाय सो'पाग जिनसन्तिकं ॥६३५॥

द्वितीय अग्रश्रावक मौद्गल्यायन महास्थविर पात्रचीवर लेकर विजयी के पास पहुँचे ॥५३५॥

धुतपापो धुतङ्गग्गो महाकस्सपनामको ।
पत्तचीवरमादाय अगमा जिनसन्तिकं ॥६३६॥

जिन्होंने पापों का नाश कर दिया है तथा धुताङ्गों[2] में सर्वश्रेष्ठ हैं, वे महाकस्सप पात्र चीवर लेकर विजयी के पास पहुँचे ॥६३६॥

सासने विनयञ्ञूनमग्गो'पालिह्वयो यति ।
पत्तचीवरमादाय जिनसन्तिकमुपागमि ॥६३७॥

सङ्घ में विनय के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ उपालि नामक भिक्षु पात्र-चीवर लेकर विजयी के पास पहुँचे ॥३३७॥

---

१. सन्तिकं—ब० ।

२. धुताङ्ग—भिक्षु के लिए विहित तेरह प्रकार के चर्या-नियम (विसु० ४०७) ।

दिब्बचक्खूनमग्गो यो रुद्धपापारिदप्पको ।
थेरो'नुरुद्धो वरदो सो'पा'ग मुनिसन्तिकं ॥६३८॥

दिव्य चक्षु वालों में अग्रसर तथा पाप रूपी शत्रु के अभिमान को अवरुद्ध करने वाले तथा इच्छानुसार देने वाले अनुरुद्ध स्थविर भी मुनि के पास पहुँचे ॥६३८॥

मणीव कामदो कामं उपवानो'ति विस्सुतो ।
ञाणी गणी दक्खिणेय्यो थेरो'पा'ग जिनन्तिकं ॥६३९॥

कामद मणि के समान, उपवान नाम से विख्यात, ज्ञानी, संघसेवी, दक्षिणेय्य स्थविर भी जिन के पास पहुँचे ॥६३९॥

बक्कुलो विमलो सीलसमाधा'दिगुणाकरो ।
आगतो सपरिक्खारो भिक्खूनं समितिं तदा ॥६४०॥

आश्रवहीन, शील, समाधि आदि गुणों की खान, बकुल भिक्षु अपने (चार) परिष्कारों[1] के साथ भिक्षुओं की सभा में पहुँचे ॥६४०॥

बुद्धसासनधोरेय्हो थेरो अङ्गुलिमालको ।
सहागन्तुं मुनिन्देन सन्नद्धो सहसागतो ॥६४१॥

बुद्धसङ्घ में श्रेष्ठ अङ्गुलिमाल स्थविर मुनिश्रेष्ठ के साथ आने के लिए सहसा आ पहुँचे ॥६४१॥

सासनोदयसेलग्गे सुरियो विय भाति'यो ।
सो'यं राहुलथेरो पि लहु'गा पितुसन्तिकं ॥६४२॥

संघ रूपी उदयाचल पर्वत पर जो सूर्य के समान शोभित होते थे, ऐसे राहुल स्थविर भी शीघ्र ही पिता के पास पहुँच गये ॥ ६४२ ॥

भद्दाचारो भद्दियव्हो थेरो भद्दघटो विय ।
पाकटो भुवने सो पि गतो सम्बुद्धसन्तिकं ॥६४३॥

---

१. परिष्कार (चार)—चीवर, भिक्षापात्र, आसन-विस्तर तथा औषधियाँ (पाइंडि-परिक्खार) ।

भद्र आचरण वाले भद्रघट[1] के समान भद्रिय-स्थविर भुवन में प्रकट होकर सम्बुद्ध के पास (आ) गए ॥ ६४३ ॥

देवद्दुमो व लोकस्स यो ददाति यथि'[2]च्छितं ।
जिनोरसो पि सेलह्वो गतो सम्बुद्धसन्तिकं ॥६४४॥

देववृक्ष (कल्पतरु) के समान जो संसार को इच्छानुसार देते हैं, ऐसे जिनपुत्र सेल सम्बुद्ध के पास पहुँचे ॥ ६४४ ॥

यामिनीसामिको वाति भाति यो सासनम्बरे ।
महानाममहाथेरो सो'पा' ग मुनिसन्तिकं ॥६४५॥

जो सङ्घ रूपी आकाश में निशापति चन्द्रमा के समान अत्यन्त शोभायमान हैं, वे महानाम स्थविर भी मुनि के पास पहुँचे ॥ ६४५ ॥

मनोसिलातलग्गम्हि जुम्भमानो व केसरी ।
सुभूतिह्वमहाथेरो बुद्धपन्तिकमागतो ॥६४६॥

चित्त रूपी श्रेष्ठ शिलातल पर जँभाई लेते हुए सिंह की भाँति सुभूति महास्थविर बुद्ध के समीप पहुँचे ॥ ६४६ ॥

बुद्धसासनछद्दन्तसरसी सारसो[3] विय ।
विस्सुतो तिस्सथेरो पि गतो भिक्खुसमागमं ॥६४७॥

बुद्ध-संघ रूपी छद्दन्त[4] जलाशय के सारस के समान विश्रुत तिष्य-स्थविर भी भिक्षुओं की सभा में पहुँचे ॥ ६४७ ॥

जिनसासनसम्फुल्लसरसीरुहमज्झगो ।
मधुब्बतनिभो राधथेरो पि सहसा गतो ॥६४८॥

बुद्ध-संघ रूपी पुष्पित कमलों के मध्य विद्यमान भ्रमर के समान राध स्थविर भी अकस्मात् पहुँच गये ॥ ६४८ ॥

---

१. भद्रघट–(जा० भद्रघटजातक) ।

२. इच्छितं–ब०; इच्छितिच्छितं–सिं० ।

३. सारसी–ब० , ४. छद्दन्त–सात महासरों में से एक (अभिधान०–छद्दन्त) ।

भगु दब्बोपसेनो च[1] कोण्डञ्ञ'स्सजि-सीवलि ।
एते जिन'त्तजा थेरा गता'सुं मुनिसन्तिकं ॥६४९॥

भृगु, दब्ब, उपसेन, कौण्डिन्य, अश्वजित्, सीवली, ये सभी जिन-पुत्र स्थविर ऋषि के पास पहुँचे ॥ ६४९ ॥

कुमारकस्सपो पुण्ण-सोण-सोभित-रेवता[2] ।
थेरो'पे'ते अभिञ्ञाता गता'सुं सत्थुसन्तिकं ॥६५०॥

कुमारकाश्यप, पूर्ण, शोण, शोभित तथा रेवत आदि सुविज्ञ स्थविर भी शास्ता के समीप पहुँचे ॥ ६५० ॥

वङ्गीसो सागतो नन्दो भारद्वाजो गवम्पति ।
पत्तचीवरमादाय गतासुं जिनसन्तिकं ॥६५१॥

वङ्गीश, स्वागत, नन्द, भारद्वाज, गबम्पति आदि भी पात्र-चीवर लेकर जिन के समीप पहुँच गए ॥ ६५१ ॥

एवमादिमहानागा पञ्चसतजिनोरगा ।
समागञ्छुं सहागन्तुं मुनिना लोकसामिना ॥६५२॥

इस प्रकार पाँच सौ जिनपुत्र जो सभी महानाग[3] थे, लोक-स्वामी ऋषि के साथ जाने हेतु एकत्रित हुए ॥ ६५२ ॥

ततो सो जगदानन्दो करुणायाभिराधितो ।
मेरुं परिक्खिपन्तो व अनेकज्जुतिविज्जुया[4] ॥६५३॥

तब संसार के लिए आनन्द-स्वरूप, करुणा के वशीभूत स्वामी ने अनेक तेजों से देदीप्यमान मेरु (पर्वत) को फेंकते हुए के समान ॥ ६५३ ॥

निवासेत्वा सुद्धरंसिविसरन्तरवासकं ।
तस्सूपरि जिनो रत्तं बन्धित्वा कायबन्धनं ॥६५४॥

१. दब्बोवपसेणो–ब० ।

२. रेवतो–ब० ।

३. महानाग (दे० गाथा सं० ६१७ की टिप्पणी ।

४. विज्जुना–ब० ।

शुद्ध किरणों की राशिस्वरूप अन्तरवास को पहनकर उसके ऊपर लाल काय-बन्धन बाँधकर ॥ ६५४ ॥

अच्चुग्गतं महाथूपं चारुचामीकरज्जुतिं[1] ।
पटिच्छादयमानो व रत्तकम्बलकञ्चुना ॥६५५॥

अत्यन्त ऊँचे उठे स्वर्णिम कान्ति वाले महास्तूप को ढँकते हुए के समान लाल कम्बल वस्त्र से ॥ ६५५ ॥

वण्णं[2] निग्रोधपक्कं[3] व सुरत्तं पंसुकूलिकं ।
सङ्घाटिया करित्वान सगुणं उत्तरीयकं ॥६५६॥

पके हुए न्यग्रोध-फल के समान लाल वर्ण पांसुकूलिक[4] चीवर को धारण कर सङ्घाटि का उत्तरीय ओढ़कर ॥ ६५६ ॥

हुत्वान सुपटिच्छन्नो पारुपित्वान साधुकं[5] ।
पत्तत्थाय पसारेसि जालाकुलकरं जिनो ॥६५७॥

अच्छी तरह आच्छादित तथा सुसज्जित हो पात्र के लिए जिन ने अपने झिल्ली-दार[6] हाथ फैलाया ॥ ६५७ ॥

लोकनाथप्पभावेन ततो पत्त-मधुब्बतो ।
पाणिसरोरुहस्स'न्तो सम्पत्तो'सि तमग्गहि ॥६५८॥

लोक-स्वामी के प्रभाव से पात्र रूपी भ्रमर हाथ रूपी कमल के समीप पहुँच गया, जिसे उन्होंने ग्रहण किया ॥ ६५८ ॥

ततो ससिस्सको नाथो उग्गन्त्वा गगनङ्गनं ।
नानावण्ण'म्बुदे तत्थ मद्दन्तो गन्तुमारभि ॥६५९॥

तब स्वामी ने शिष्यों सहित आकाश रूपी आंगन में जाकर कई रंगों वाले बादलों का मर्दन करते हुए प्रस्थान किया ॥ ६५९ ॥

---

१. जुति–ब० । २. वणां–ब०, वण्णा–सिं० । ३. पक्खं–रो० ।
४. पांसुकूलिक–धूलधूसरित चिथड़े का वस्त्र । ५. साधु तं–सि० ।
६. छिल्लीदार–बत्तीस महापुरुष लक्षणों में से एक (दे० गाथा सं० २७ की टिप्पणी) ।

ततो सम्बुद्धदेहस्मा निक्खन्तासुं छरंसियो ।
हेमकण्णिकतो यातमणिगोपानसी यथा ॥६६०॥

उस समय सम्बुद्ध के शरीर से, स्वर्णिम (भवन के) अग्र भाग से निकले हुए मणि के स्तम्भों के समान छः प्रकार की किरणें उद्भुत हुईं ॥ ६६० ॥

वाणिन्दीवरपुप्फेहि मेचकिन्दीमणीहि च ।
छादेन्ती विय निक्खन्ता नीलंसू मुनिदेहतो ॥६६१॥

वान और इन्दीवर के (नीले) पुष्पों से तथा श्यामल इन्द्रनील मणियों से (दिशाओं को) आच्छादित करती हुईं सी नीली किरणें मुनि के शरीर निकल रहीं थीं ॥ ६६१ ॥

चम्पकुद्दालमालाहि हेमचुण्णम्बरेहि च ।
पूरयन्ती विया[1]सङ्गा पीतंसू जिनदेहतो ॥६६२॥

चम्पक एवं उद्दाल पुष्प समूहों से तथा स्वर्णिम चूर्ण एवं वस्त्रों से दिशाओं को भरती हुई सी पीली रश्मियाँ भगवान के शरीर से निकल रहीं थीं ॥ ६६२ ॥

भण्डीपुप्फकदम्बेहि लोहितङ्कमणीहि च ।
लोहिताभा पपूरेन्ती दिसा[1]गा मुनिदेहतो ॥६६३॥

भण्डो[2] (मञ्जिष्ठ) पुष्प समूहों तथा लाल माणिक्यों के समान मुनि के शरीर से निकली रक्त कान्ति से दिशाएं भरने लगीं ॥ ६६३ ॥

हारमल्लिकमालाहि सोमंसूफलिकादिहि ।
पूरयन्ती वियासङ्गा[3] ओदाता मुनिदेहतो ॥६६४॥

मुक्ता राशियों से तथा चन्द्र किरणों से मानों दिशाओं को भरती हुई श्वेत आभा मुनि के शरीर से निकल रही थी ॥ ६६४ ॥

---

१. दिसङ्गा–ब० ।

२. भण्डी = मञ्जिष्ठा विकसा जिङ्गी समङ्गा कालमेसिका ।
मण्डूकपर्णी भण्डीरी भण्डी योजनवल्ल्यपि ॥ (अमर २/४/९१)

३. दिसासङ्गा–ब० ।

पिञ्जुमञ्जेट्ठरासीहि पदुमाभमणीहि च।
दिसं छादयमाना'गा मञ्जिट्ठाभा[1] जिनङ्गतो ॥६६५॥

विजयी के शरीर से मञ्जिष्ठ (रक्त) आभा मानों पिञ्जु तथा माञ्जिष्ठ समूहों से तथा पद्माभ मणियों से दिशाओं को भरती हुई निकलने लगी ॥ ६६५ ॥

नेकिन्दचापकिण्णं व दिवसं रतनु'त्थतं।
चित्तपटं व मुञ्चन्तं मिस्सा'गा जिन-अङ्गतो ॥६६६॥

जिन के शरीर से एक मिश्रित आभा भी निकल रही थी, जो मानों चित्रपट को छोड़ती हुई आकाश को अनेक इन्द्रधनुषों से युक्त तथा फैले हुए रत्नों से व्याप्त कर रही थी ॥ ६६६ ॥

गिरिकूटकूटागारमत्ता[2] छब्बण्णरंसियो।
आवेलवेला धावन्ति दिप्पमानेतरेतरा ॥६६७॥

(उनके शरीर से निकली) पर्वत शिखर के बराबर छः रंगों की किरणें एक दूसरे को देदीप्यमान करती हुई ऊँचे प्रवाह में दौड़ने लगीं ॥ ६६७ ॥

गच्छमाना'हनित्वान चक्कवालसिलुच्चये।
उग्गन्त्वा परतो यन्ति नीरनिज्झरसन्निभा ॥६६८॥

(वे किरणें) चक्रवाल पर्वत का अतिक्रमण कर के ऊपर उठकर जाती हुई। जलप्रपात के समान दूसरी ओर जा रहीं थीं ॥ ६६८ ॥

सम्मुखे सम्मुखे[3]तायो[3] रुक्खपब्बतआदयो।
कारयन्ता सकं वण्णं धावन्ता[4]पि च सिन्धवो ॥६६९॥

अपने समक्ष विद्यमान वृक्षों, पर्वतों आदि को अपने वर्ण का बनाती हुईं सागर तक जा पहुँची ॥ ६६९ ॥

---

१. भि-ब० । २. कूटागात-ब० ।
३-३. सम्भुनायो-ब० । ४. धवन्तं-ब० ।

उद्धमुग्गतरंसीहि रञ्जिता जलदा तदा ।
नानावण्णो पुने'वा'सि नूतनो रविमण्डलो ॥६७०॥

ऊपर उठी किरणों से मेघ रंगीन हो गए और नाना वर्णों वाला सूर्य तब कुछ नया ही था ॥ ६७० ॥

जिनप्पभापवाहेसु विमुग्गा देवता'गता ।
पूजेतुं व निजत्तेहि नानावण्णा सियुं तदा ॥६७१॥

उस समय पूजा के लिए आए देवतागण विजयी के प्रभा-प्रवाहों में डूबे हुए नाना वर्णों में ऐसे लग रहे थे, जैसे वे अपना शरीर स्वयं रंग लिए हों ॥ ६७१ ॥

पविट्ठा बुद्धरंसीनमन्तरं देवधीतरो ।
असञ्ञानिय मुह्यिसु मुहुत्तं अत्तनो धवं ॥६७२॥

बुद्धरश्मियों में प्रविष्ट देवकन्याएं क्षण भर के लिए अपने पतियों को भूलकर मुग्ध सी हो गईं ॥ ६७२ ॥

सुरासुरोरगब्रह्मसिद्धविज्जाधरादयो ।
चामरच्छत्तकेतूहि पूजयन्ता जिन'न्वगुं ॥६७३॥

सुर, असुर, नाग, ब्रह्मा, सिद्ध, विद्याधर आदि ने चामर, छत्र, ध्वजा आदि से पूजा करते हुए तथागत का अनुगमन किया ॥ ६७३ ॥

अग्घिकापन्तियो केचि तोरणूपरितोरणे ।
घटदीपालियो तत्थ करोन्ति अभितो'भितो ॥६७४॥

(उनमें से) कुछ अर्घ्य की पंक्तियाँ, तोरणों के ऊपर तोरण तथा घट, द्वीप आदि को इधर-उधर (चारों तरफ) रख रहे थे ॥ ६७४ ॥

पादपटे पत्थरन्ति वितन्वन्ति वितानके ।
तत्थूपरि अनेकानि कुसुमानो'किरन्ति च ॥६७५॥

कुछ पाँव रखने के लिए कपड़े फैला रहे थे तथा कुछ उसके ऊपर अनेक प्रकार के पुष्प बिखेर रहे थे ॥ ६७५ ॥

कतमं देवलोकन्नु याति लोकग्गनायको ।
याति किं ब्रह्मलोकन्नु अम्हाकं भवनन्नु खो ।।६७६।।

लोकश्रेष्ठ नायक किस देवलोक को जा रहे हैं ? ये ब्रह्मलोक को जा रहे हैं या हमारे भवन को ।। ६७६ ।।

कत्थ नु खो देवदेवो कस्सानुग्गहबुद्धिया ।
यातो' ति कङ्खिता केचि संसरन्ति इतो चि'तो ।।६७७।।

देवताओं के देवता कहाँ, किस पर अनुग्रह-बुद्धि से जा रहे हैं ? इस प्रकार कहते हुए इधर-उधर आ-जा रहे थे ।। ६७७ ।।

मापेत्वा अभितो मग्गे मण्डपे रतनामये ।
सयनासनं पञ्ञपेत्वा काचि तिट्ठन्ति देवता ।।६७८।।

कुछ देवता दोनों तरफ से मार्ग का निर्माण कर रत्नमय मण्डप का निर्माण कर बैठ गए ।। ६७८ ।।

तहिं-तहिं पट्ठपेन्ता सुद्धन्नमधुरोदकं ।
याचमाना[1] जिनं केचि तिट्ठन्ति च महन्ति च ।।६७९।।

इधर-उधर कुछ देवता शुद्ध अन्न एवं मीठे जल को लेकर याचना करते हुए बैठकर पूजा कर रहे थे ।। ६७९ ।।

एवं महामहे नाथो वत्तमाने अनूपमे ।
जलं सम्बुद्धसिरिया नूतनो सुरियो विय ।।६८०।।

इस प्रकार अनुपम (विधि से) पूजा किए जाते हुए स्वामी सम्बोधिश्री से प्रकाशित नवीन सूर्य के समान थे ।। ६८० ।।

ब्रह्मसेना'भितोयाता ब्रह्मा वा'थ[2] सहम्पति ।
सुरसेना'भितोयाता सक्को व समलङ्कतो ।।६८१।।

(वे) वे चारों तरफ से ब्रह्म सेना से घिरे सयम्पति ब्रह्मा के समान तथा देवसैन्य से चारों ओर से घिरे शक्र के समान ।। ६८१ ।।

---

१. यावमाना–ब० । २. त–ब० ।

गहालिमभितोयातगहङ्गामणिसन्निभो ।
धतरट्ठखगिन्दो व हंससेनालिपुब्बगो ।।६८२।।

ग्रहसमूहों से दोनों तरफ से घिरे चन्द्रमा के समान तथा हंसों के आगे चलने वाले पक्षिराज धृतराष्ट्र[1] के समान ॥ ६८२ ॥

अपेतरागदोसेहि वीतमोहेहि सब्बसो[2] ।
पटिसम्भिदत्तसम्पत्तसावकेहि अनुग्गतो ।।६८३।।

—राग-दोषों से मुक्त, मोहविहीन तथा प्रतिसंविद्[3] ज्ञान से युक्त श्रावकों से अनुगत ॥ ६८३ ॥

येसं येसं मनस्मिं यं यं अत्थि किञ्चि संसयं ।
तेसं तं तं पणुदेन्तो देसनाय सुधासिनं ।।६८४।।

—जिनके-जिनके मन में जो-जो संशय थे, उन सबको दूर करते हुए देवताओं की देशना हेतु ॥ ६८४ ॥

तत्थ तत्थानुरूपेन पाटिहारियकम्मुना ।
लोकस्स नयनाली सो तोस'स्सुसु निमुज्जयं ।।६८५।।

—जहाँ-तहाँ प्रातिहार्य[4] कर्म के द्वारा सबके अनुकूल होकर संसार के नेत्र भगवान् उन्हें सन्तुष्टि के आसुओं में डुबोते हुए ॥ ६८५ ॥

सम्पत्तो'लङ्कतं लङ्कमथा'गु फणिनो[5] तदा ।
पटिमग्गं करोन्ता ते तत्थ-तत्थ महामहं ।।६८६।।

---

१. धृतराष्ट्र—काले पैर वाला हंस (अभिधान० धतरट्ठ)

२. सद्धसो—ब० ।

३. प्रतिसंविद्—हेय एव उपादेय का अन्तर समझने का ज्ञान, जिसके बाद ही अर्हत्व प्राप्त होता है ।

४. तीन प्रकार के पाटिहारिय काम्म—ऋद्धि पाटिहारिय, आदेसना पाटिहारिय, अनुसासनी पाटिहारिय (पटि० ४९१)

५. पातनो—ब० ।

—अलङ्कृत लङ्का में पहुँचे। तब यहाँ-वहाँ उत्सव मनाते हुए नाग उनसे मिलने आए ॥ ६८६ ॥

उरगानमन्तरे देवा ब्रह्मा'सुं तेसमन्तरं।
एवं सम्मिस्सको लोको ब्रह्मलोका पपूरयि ॥६८७॥

नागों के बीच देवता तथा देवताओं के बीच ब्रह्मा थे। इस प्रकार मिश्रित होने के कारण वह स्थान ब्रह्मलोक (के देवताओं) से भर गया ॥ ६८७ ॥

ये पस्सन्ति जिनं तत्थ ससिस्सं सिरिया जलं।
सुलद्धा तेहि नेत्तानि तेसमक्खीनि लोचना ॥६८८॥

जो लोक वहाँ शोभा से प्रदीप्त, शिष्यों सहित 'जिन' को देख रहे थे, उनके ही नेत्र सुलब्ध थे। उन्हीं की आँखें असली दर्शक थीं ॥ ६८८ ॥

ये सुणन्ति तदा धम्मं धम्मिस्सरपभावितं।
सुलद्धा तेहि सोतानि तेसं सोतानि सोतका ॥६८९॥

धर्म-स्वामी द्वारा प्रवर्तित धर्म को वहाँ जो सुन रहे थे, उन्हीं के कर्ण सुलब्ध थे। उन्हीं के श्रवण असली सुनने वाले थे ॥ ६८९ ॥

ये लपन्ति तदा बुद्धगुणं हि गुणभूसणा।
सुलद्धा तेहि वे जिह्वा तेसं जिह्वा रसञ्ञका ॥६९०॥

गुण रूपी आभूषणों से युक्त जो लोग बुद्ध के गुणों का गान करते थे, उन्हीं की जिह्वाएं सफल थीं। उन्हीं की जिह्वाएं असली रसज्ञ थीं ॥ ६९० ॥

ये वन्दन्ति जिनं यन्तं ससङ्घं गगनङ्गणे।
सुलद्धा तेहि हत्थानि तेसं बाहा व वे भुजा[1] ॥६९१॥

आकाश-प्राङ्गण में सङ्घ सहित जाते हुए 'जिन' की जो लोग पूजा कर रहे थे, उन्हीं के हाथ सुफल थे। उन्हीं की भुजाएं असली भुजा थीं ॥ ६९१ ॥

---

१. तेसं येव भुजा भुजा—सिं०।

तदा तथागतं दिस्वा ये सन्तुट्ठा तथागता ।
तथागतानं सब्बेसं सो तोसो होतु सब्बदा ॥६९२॥

उस समय तथागत[1] को देखकर वहाँ आए हुए सभी सन्तुष्ट थे। उस प्रकार आए हुए वे, सभी के लिए सदा सन्तुष्टि-कारक होवें ॥ ६९२ ॥

गतो कल्याणियं नाथो महन्ते'वं सदेवके ।
तेसं पूजाविधानं को मुखेने'केन भासति ॥६९३॥

इस प्रकार देवतादिकों से पूजित होते हुए स्वामी कल्याणी में पहुँचे। उनके पूजाविधान को कोई एक मुख से कैसे कह सकता है ? ॥ ६९३ ॥

ततो गङ्गा मनुञ्ञं हि सम्पत्तं तं सपुत्तकं ।
तरङ्गमुदुवाहाहि गहेत्वा चरणम्बुजे ॥६९४॥

तब (कल्याणी) नदी ने शिष्यों के साथ वहाँ पहुँचे मनोज्ञ तथागत के चरण-कमलों को कोमल तरङ्गों रूपी हाथों से पकड़कर ॥ ६९४ ॥

पादे पक्खालयि सम्मा फेणपुप्फुपहारिका ।
ततो ततो'तुं[2] गण्हित्वा अका देहस्स'नुग्गहं ॥६९५॥

—पैरों को ठीक से धोकर फेन रूपी पुष्पों का उपहार देकर बाद में शरीर को ठण्ड से ताजा बनाकर उनकी पूजा की ॥ ६९५ ॥

ततो सो याचितो सत्था नागसङ्घेहि वन्दिय ।
अगमा मण्डपं रम्मं मनोनन्दनमावहं ॥६९६॥

नाग समूहों द्वारा बन्दना कर याचना किये जाने पर शास्ता मन के लिए आनन्दकर रम्य मण्डप में पधारे ॥ ६९६ ॥

---

१. "वैसे ही गया हुआ जैसे अन्य बुद्ध गए"। यह इसका शब्दगत अर्थ है, जो इस गाथा में अभिप्रेत है। गाथा में प्रयुक्त शेष तथागत शब्द साहित्यिक हैं।

२. तु—ब०।

गन्त्वा मण्डमज्झम्हि बुद्धारहमहासने ।
निसीदो'भासयं आसा रवीव उदयाचले ॥६९७॥

मण्डप के मध्य जाकर बुद्धों के योग्य बहुमूल्य आसन पर दिशाओं को प्रकाशित करते हुए उदयाचल पर्वत पर सूर्य के समान बैठ गये ॥ ६९७ ॥

ततो भिक्खू निसीदिंसु पत्तपत्तासने तदा ।
बभास मण्डपं'तीव[1] सरं व पदुमाकुलं ॥६९८॥

इसके अनन्तर अन्य भिक्षु प्राप्त आसनों पर बैठ गये। वह मण्डप कमलों से व्याप्त जलाशय की भाँति अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥ ६९८ ॥

जननेत्तालिनो'गम्म वसी सोम्ममुखम्बुजे ।
पतन्ता कुसलामोदे गण्हन्ता तित्ति नो गता ॥६९९॥

लोगों के नेत्र रूपी भ्रमर आ-आकर इन्द्रियों को वश में करने वाले तथागत के मुख-कमल पर गिरते हुए तथा कुशल आनन्द को प्राप्त करते हुए अघाते नहीं थे ॥ ६९९ ॥

तदा सभिक्खुका नागा मुनिनो रूपसागरे ।
नेत्तिन्दमणिनावाहि पारं गन्तुं न ते प'हुँ ॥७००॥

इसी प्रकार भिक्षुओं सहित नाग भी मुनि के रूप-सागर में अपने नेत्र रूपी इन्द्रमणि के नावों से पार नहीं पा सके ॥ ७०० ॥

ततो ससङ्घं सुगतं सजनो मणिअक्खिको ।
सक्कच्चं सकहत्थेहि अन्नपानेन तप्पयि ॥७०१॥

इसके अनन्तर मणिअक्खिक ने अपने परिजनों के साथ अपने हाथों से संघसहित सुगत का सत्कार करके अन्न-पान से उनका तर्पण किया ॥ ७०१ ॥

अथो'नीतपत्तपाणिं अच्चयित्वा तथागतं ।
भत्तिनिन्नो निमन्तेसि देसनत्थानुमोदनं ॥७०२॥

---

१. मण्डपन्ती व–ब० ।

तब पात्र पर हाथ लाये हुये तथागत की पूजा करके भक्ति से विनम्र हो उसने उपदेश के लिए स्वीकृति (प्राप्त करने) हेतु निमन्त्रण दिया ॥ ७०२ ॥

ततो ब्रह्मस्सरो सत्था निच्छरं ब्रह्मघोसनं ।
विञ्ञापेन्तो जने सब्बे सकसद्देन देसनं ॥७०३॥

तब श्रेष्ठ स्वर वाले शास्ता ने सभी लोगों को उन्हीं के शब्दों में श्रेष्ठ आवाज में देशना की ॥ ७०३ ॥

देसेस्वेवं जिनो धम्मं अनिलासनकादिनं ।
पीतिपामोज्जजननं निब्बानामतमावहं ॥७०४॥

वायु का भोग करने वाले नागादिकों के लिए निर्वाण रूपी अमृत को धारण करने वाले तथा प्रीति एवं प्रमोद उत्पन्न करने वाले धर्म का उपदेश दिया ॥ ७०४ ॥

भो भो सुणाथ भुजगा भवसागरम्हि
पापारिनक्कमकराकुलदुग्गमम्हि ।
मग्गा जना खलु लभन्ति कदा पतिट्ठं
ओहाय बुद्धथिरसारतरं[1] विसालं ॥७०५॥

"अरे नागों ! सुनो, पापी शत्रु रूपी घड़ियालों एवं मगरमच्छों से भरे होने के कारण दुर्गम इस भवसागर में लोग प्रतिष्ठित, विशाल एवं दृढ़ बुद्ध को छोड़कर कब (पार जाने का) मार्ग प्राप्त कर पाते हैं ॥ ७०५ ॥

लद्धान दुल्लभतरं मुनिपातुभूत-
कालं चिरेन भुजगा न पमादयित्थ ।
जातीजरामरणदुक्खपरिद्दवा च
संसारिकस्स न ततो' पगतस्स होति ॥७०६॥

नागों ! चिरकाल के पश्चात् मुनि के प्रादुर्भाव के दुर्लभ अवसर को प्राप्त कर प्रमाद न करो। जन्म, जरा एवं मरण रूपी दुःख एवं उपद्रव सांसारिक को तो होते हैं, किन्तु जो उससे विहीन है, उसके लिए नहीं ॥७०६॥

---

१. सम्बुद्ध०–ब०; तरि–सिं० ।

तारुञ्ञमम्बुजसिरिं व परित्तकालं
पाणं तुसारलवसारतरं जनानं।
भोगं दधाति जलधिम्हि तरङ्गभङ्गि
निच्चं मनो दहति सोकसिखीहि नाना ॥७०७॥

लोगों का यौवन कमलश्री के समान अल्पकालिक है। प्राण तुषार-कण के बराबर महत्त्व वाला है। संसारिक भोग समुद्र की लहरों की भाँति भङ्गता को धारण करने वाले हैं तथा मन नित्य नाना प्रकार के शोक रूपी ज्वालाओं से जलता रहता है ॥७०७॥

कत्वान रागमिसयो पि खगा दुपञ्ञा
थोरूपिनारिकुसुमेसु पि रूपगिद्धा।
पत्ता'नयं खलु पुरे परिहीनझाना
रूपे न रज्जथ ततो खलु साधुपञ्ञा ॥७०८॥

इस संसार में आकाश तक गमन करने वाले ऋषि भी रूप आसक्त तथा दुष्प्रज्ञ होकर स्त्री रूप वाले नारि[1] पुष्पों में रूपासक्ति के कारण ध्यानविहीन हो घोर विपत्ति में पड़ गए। इसलिये साधुप्रज्ञ होकर भी रूप में राग मत उत्पन्न करो ॥७०८॥

सद्दानुरागमनुगो पि पुरे सिखण्डी
सुत्वान मोरिमधुरं गिरमिञ्जितङ्गो।
व्याधस्स हत्थमगमासि भवेसु तस्मा
नत्थे 'व सद्दसमदुक्खकरं जनानं ॥७०९॥

प्राचीनकाल में शब्द का अनुरागी मयूर[2] भी मोरनी के मधुर शब्द को सुनकर शरीर को घुमाते ही व्याध के हाथ पड़ गया, जिसके कारण भव (सागर) में पड़ गया। इसलिए 'शब्द' के समान दुःखकर अन्य नहीं है ॥७०९॥

---

१. देवेन्द्र शक्र की आज्ञा से अलम्बुसा अप्सरा ने ऋषि श्रृङ्ग का तप, पुष्प का रूप बनाकर भ्रष्ट कर दिया (जा० आलम्बुस जातक)।

२. मोरनी की आवाज में आसक्त हो मोर व्याध के हाथ पड़ गया था। (जा० मोर जातक)

ओहाय नेककुसुमेसु परागरागं
मत्तेभकुम्भमगमा मदगन्धलुद्धो।
भिङ्गो पभग्गतनुको[1] करिकण्णताला
नत्थे 'व गन्धसदिसं तिभवेसु पासं ॥७१०॥

मदजल के गन्ध का लोभी भ्रमर अनेक प्रकार के पुष्पों में (विद्यमान) पराग रस को छोड़कर मतवाले हाथी के गण्डस्थल पर जा पहुँचा, किन्तु हाथी के कान के ताडन से उसका शरीर भग्न हो गया। इसलिए तीनों लोकों में गन्ध के समान कोई बन्धन नहीं है ॥७१०॥

गम्भीरनीरधिभवो पचुरासनो पि
मच्छो गिलित्व बलिसं रसगेधहेतु।
पप्पोति दुक्खमतुलं न रसेसु सातं
अत्थीति मन्त्व पजहाथ रसेसु गेधं ॥७११॥

गम्भीर समुद्र में उत्पन्न एवं प्रचुर भोज्यों से युक्त मत्स्य[2] रस में आसक्ति के कारण मत्स्यबेधन (कटियां) में फँसकर अतुलनीय दुःख को प्राप्त करता है। इसलिये 'रसों में कोई आनन्द नहीं है' ऐसा मानकर रसों के प्रति आसक्ति का त्याग करो ॥७११॥

भो ब्रह्मलोकागतसुद्धसत्तो
बुद्धत्तमेव नियतो अपि बोधिसत्तो।
थीसङ्गमाय परिहायि सरज्जतो पि
तस्मा हि फस्स-सदिसो अनयो न च'त्थि ॥७१२॥

अरे! यहाँ तक कि ब्रह्मलोक से आया शुद्ध सत्त्व, बुद्धत्व (प्राप्त करना) जिसके लिए निश्चित था, ऐसा बोधिसत्त्व[3] स्त्री सङ्गम से हीन हो गया तथा राज्य से भी च्युत हो गया। इसलिए 'स्पर्श' के समान कोई विघ्न नहीं है ॥७१२॥

---

१. भिङ्गो हि भाग—ब०।

२. मच्छजातक (जाहि० ३७२)

३. जो बचपन में स्त्री धात्री का दूध नहीं पीता था, वह भी बड़ा होकर स्त्री के फेर में आ ही गया। (चुलन पलोभन जातक-जाहि० ५३)

भेरण्डपेलककपुद्दकहेतुहीना
सत्ता पि दानरुचिदानमणिप्पभावा।
पत्ता[1] पवग्गवरसारपुरं भुजङ्गा
को न-प्पदाति[1] धनिको सिवमेसमानो ॥७१३॥

(निर्वाण-प्राप्ति के) साधनों से हीन शृगाल, खरगोश, बन्दर, ऊदबिलाव आदि प्राणी 'रुचिदानमणि' (कामद मणि) के दान के प्रभाव से श्रेष्ठ निर्वाण रूपी श्रेष्ठ नगर को प्राप्त कर सके। हे नागों ! कल्याण की आकांक्षा से कौन धनिक नहीं दान करता है ॥७१३॥

पालेत्व सोलममलं विसकण्ठिका[2] पि
इन्दस्स नन्दनवने 'सि पिया महेसी।
तस्मा पसत्थविभवं यदि पत्थयह्वो
पालेय सीलममलं खलु जीवितं व ॥७१४॥

स्वच्छ शील का पालन करके एक बलाका भी इन्द्र के नन्दन-वन में प्रिया महिषी के रूप में अभिषिक्त हो गई। इसलिए यदि श्रेष्ठ वैभव की कामना रखते हो तो अपने जीवन के समान ही निर्मल शील का पालन करो ॥७१४॥

सग्गो विसालरतनालयसम्पकिण्णो
सानन्दमन्दसुरसुन्दरिसुन्दरो सो।
फुल्लम्बुजाकरवनादिहि नन्दनीयो
तत्थामरा विय' मरा' विरतं रमन्ति ॥७१५॥

विशाल रत्नगृहों से युक्त, अधिक आनन्द एवं देवसुन्दरियों के कारण अत्यन्त सुन्दर स्वर्ग पुष्पित कमलों के निधिस्वरूप वनों आदि से आनन्दकर है। वहाँ देवता अमर होकर निरन्तर रमण करते हैं ॥७१५॥

तम्हा पि भो रुचिरब्रह्मनिकायभूति
रम्मा[3] ततो[3] पि महितं अमतं वरिट्ठं।

---

१. पधाति–ब०।
२. वियकण्ठिका–ब०।
३–३. रम्मन्ततो–ब०।

तस्मा' त्तकामनिरता जनता सपञ्ञा
तण्हक्खयाय सततं विरियं करोथ ॥७१६॥

सुन्दर ब्रह्मलोक के वैभव से भी अधिक रमनीय अमृत (निर्वाण) पूजित एवं श्रेष्ठ है। इसलिए अपनी कामनाओं में तल्लीन नागों ! प्रज्ञासम्पन्न होकर तृष्णा के नाश के लिए प्रयत्न करो ॥ ७१६ ॥

एवं सद्धम्ममग्गं वरमति सुगतो देसयी पन्नगानं
सुत्वा ते सम्पहट्ठा महमहमकरु निज्जरादीहि सद्धिं ।
तेसं वे देसना 'यं सुरविटपिसमा सात्थिका तत्थ जाता
सो नाथो तञ्च धम्मं भगवतितनया ते च वो पालयन्तु ॥७१७॥

इस प्रकार श्रेष्ठ मतिमान् सुगत ने नागों के लिए श्रेष्ठ सद्धर्म का उपदेश दिया। नागों ने उसे सुनकर प्रसन्न हो देवताओं आदि के साथ महान् उत्सव किया। उनके लिए यह देशना कल्पवृक्ष के समान सार्थक हुई। वे स्वामी, वह धर्म तथा उनके शिष्य आपकी रक्षा करें ॥ ७१७ ॥

सुमनगिरिसिरे पादलञ्छनं

नगाधिराजे सुमनाभिधाने
वसं सुमेधो सुमनाभिधानो ।
देवो तदा' गम्म सपारिसज्जो
कल्याणियं तत्थ फणीहि सद्धिं ॥७१८॥

उस समय सुमन नामक पर्वतराज पर निवास करने वाले सुमन नामक सुबुद्धियुक्त देवता अपने परिजनों के साथ वहाँ आकर कल्याणी में नागों के साथ—॥ ७१८ ॥

दत्वापवग्गस्स निदानदानं
सुत्वान धम्मं सुतिसीतिभूतं ।
पहट्ठचित्ता उपगम्म बुद्धं
नत्वा 'ह एवं कतपञ्जलीको ॥७१९॥

—निर्वाण में सहायक दान देकर, श्रवणों के लिए शीतल धर्म को सुनकर प्रसन्नमन हो, मन से बुद्ध के समीप जाकर अञ्जलि से प्रणाम कर इस प्रकार बोले—॥ ७१९ ॥

'न वे फणीनं न पि मानुसानं
नानिम्मिसानं[1] न पितामहानं।
हितत्थमेवाखिललोकनाथा
जायन्ति लोके करुणागुणग्गा ॥७२०॥

"न केवल नागों, मनुष्यों, राक्षसों और न ही मात्र ब्रह्माओं के लिए, बल्कि करुण-गुणों में श्रेष्ठ सम्पूर्ण लोकों के स्वामी (सबके) कल्याणार्थ लोक में उत्पन्न होते हैं ॥ ७२० ॥

अन्तोगधा[2] नून मयम्पि तुय्हं
दयाय तस्मा फणिनं 'वि' येसं।
करोमि मय्हं भवनम्हि धीर
पादं'सुना' तीव पवित्तरूपं ॥७२१॥

निश्चय ही, इन नागों के समान हम भी आपकी दया के पात्र हैं। इसलिए हे धीर ! हमारे निवास को भी अपने चरण-रज से पवित्र कीजिए ॥ ७२१ ॥

यो 'यं नगो दिस्सति' तो पुरत्थ[3]
भूमङ्गनामोलिसिरिं वहन्तो।
समन्तकूटो ति समन्तचक्खु
जानाति लोको वसतिं ममे 'तं ॥७२२॥

यह सामने जो पृथ्वी रूपी नायिका के शिर की शोभा को धारण करता हुआ पर्वत दिखाई दे रहा है, वह समन्तचक्षु के रूप में समन्तकूट (नाम से अभिहित) है। लोग इसे मेरे निवास के रूप में जानते हैं ॥ ७२२ ॥

---

१. विसाचरानं–ब०। २. गद–ब०।
३. पुरत्था–ब०।

यो नीलनानावनराजिराजितो
आसारधारागिरिनिज्झराकुलो
आपोतनीलारुणपल्लावली
जीमूतकूटो विय भाति उग्गतो ।।७२३।।

जो नाना प्रकार की (हरियाली के कारण) नीली वनपंक्तियों से सुशोभित, तेज गिरती हुई धाराओं वाले पर्वतीय झरनों से भरा हुआ, पीत, नील एवं लाल पल्लवों वाला, ऊँची मेघश्रेणी के समान शोभित हो रहा है ।। ७२३ ।।

यो सिन्धुवारी उरसा पभेज्ज
आगम्म ते पादपणामहेतु ।
विज्जोतमानो विय चक्कपाणी
महातितुङ्गग्गधराधरिन्दो ।।७२४।।

महान् और अत्यन्त ऊँचे चोटियों वाला, जो पर्वतराज चक्रपाणि के समान प्रकाशमान होता हुआ, समुद्र की धारा को अपनी छाती से तोड़कर आपके चरणों में में नमन हेतु आकर सुशोभित हो रहा है ।। ७२४ ।।

गङ्गा-वधूकूटकिरीटधारी
सामन्तसेलिन्दचमूपतीको ।
यो 'यं धराधारमहामहीपो
रराज लङ्कानगरङ्गणम्हि ।।७२५।।

नदियों रूपी वधुओं तथा शिखर रूपी मुकुट को धारण करने वाला तथा पड़ोसी पर्वत रूपी सेनाओं का स्वामो, यह पर्वतों का महान् राजा लङ्का रूपी नगर के प्राङ्गण में शोभायमान है ।। ७२५ ।।

पारोहदन्तो चितकूटकुम्भो
अनेकसोण्डिक्खसवन्ति - हत्थो ।
सो निज्झरासारमदप्पवाहो
गजो विया[1] भाति सुराधिपस्स ।।७२६।।

---

१. गजो–रिवाभाति–सिं०, रो० ।

(वृक्षादिकों के) अंकुरों रूपी दाँतों से युक्त, अनेक शिखरों रूपी गण्डस्थल वाला, अनेक प्राकृतिक जलाशयों रूपी आँखों वाला तथा नदी रूपी सूंड एवं झरनों के धारासम्पात रूपी मदजल के प्रवाह वाला यह पर्वत देवराज इन्द्र के हाथी के समान-सुशोभित हो रहा है ॥ ७२६ ॥

सम्फुल्लपुप्फत्थबकातपत्ता
सन्धत्तरत्तङ्कुरमोलिमाला ।
कन्तालतालिङ्गितखन्धदेहा
तिट्ठन्ति भूपा व यहिं कुजिन्दा ॥७२७॥

जहाँ पर विकसित पुष्पों के गुच्छों रूपी छत्रों से युक्त, धारण किये हुए लाल अङ्कुरों रूपी शिर की माला वाले तथा लताओं रूपी कान्ताओं से आलिङ्गित शरीर वाले वृक्षराज राजाओं की तरह स्थित हैं ॥ ७२७ ॥

सिद्धङ्गनारत्तपदम्बुजाली
सम्भिन्न-हत्थाभरणालियुत्ता ।
केकीकलापुप्पलमालमाली
सिलातलाकञ्जनि भन्ति यत्थ ॥७२८॥

जहाँ सिद्धाङ्गनाओं के लाल चरणों रूपी कमलपंक्तियों वाले, मिश्रित हस्ताभरण रूपी भ्रमरपंक्तियों से युक्त, मयूर की पूँछ रूपी नील कमल की पंक्तियों वाले शिलापट्ट रूपी जलाशय शोभायमान हैं ॥ ७२८ ॥

मङ्गूरपाठीनसवङ्कसिङ्गु-
रोहिच्चमुञ्जामरपावुसेहि ।
कुलारनक्कादिनिमेसकेहि
निकीळितं दद्दुररत्तपेहि ॥७२९॥

जो मङ्गुर, पाठीन (पहिना या पोठिया), सवङ्क, सिङ्गु, रोहित, मुञ्ज, अमरा, पावुस आदि मछलियों से तथा केकड़ों, घड़ियालों, मेढकों एवं जोकों आदि (अन्य जलचर जीवों) से क्रीड़ित ॥ ७२९ ॥

निच्चं हि संराव-विरावितानं
बलाककादम्बकदम्बकानं ।

आपानसाला[1] विय सारसानं
हंसालिनं मङ्गलवासभूतिं ॥७३०॥

हमेशा शोरगुल करने वाली बलाकाओं तथा कलहंसिनियों के और सारसों एवं हंसों के सराय के समान मङ्गलमय आवास-स्थान—॥ ७३० ॥

निरन्तरामोदमुदावहेहि[2]
सुफुल्लकोकासरविन्दकेहि ।
सोगन्धिकिन्दीवरकेरवेहि
किञ्जक्खछन्नण्णतलेहि चित्तं ॥७३१॥

—तथा हमेशा आमोद-प्रमोद प्रदान करने वाले सुपुष्पित रक्तकमलों, अरविन्दों, मुण्डी, नील-कमलों तथा श्वेत कमलों के परागों से व्याप्त तालाबों से वैविध्ययुक्त ॥ ७३१ ॥

सीतच्छसातोदकसम्पपुण्ण-
सरोजिनीलङ्कृतभूमिभागो ।
यो, यं पुरे भाति मनुञ्ञरूपो
समन्तकूटो स समन्तकूटो ॥७३२॥

—शीतल, स्वच्छ तथा आनन्ददायक जल से भरे हुए कमल-जलाशयों से अलंकृत है भूभाग जिसका, ऐसा यह मनोहर रूप वाला तथा चारों तरफ से शिखरों से घिरा 'समन्तकूट' सामने सुशोभित हो रहा है ॥ ७३२ ॥

दलितविपिनसण्डा[3] यत्थ सेले समन्ता
समुपगतजनानं चित्तमामोदयन्ति ।
मधुकवटकरेरी बोधिजम्बीरभल्ली-
खदिर' भयकदम्बा फुल्लसेलूपलासा ॥७३३॥

---

१. सालं—ब० ।
२. वसेहि–ब० ।
३. ०विदित०–ब० ।

जिस पर्वत पर चारों ओर से आने वाले लोगों के मनों को मधूक (महुआ), वट, करेरी, बोधि, जम्बीर (जम्भेरी), भल्ली (भेलाका), खैर, अभया (हरीतकी), कदम्ब एवं पुष्पित सेल्लु (बहुआर या लसोड़ा) तथा पलाश के वृक्ष आनन्दित करते हैं ॥ ७३३ ॥

पणसमतपिलक्खा कण्हवण्टक्खचिञ्चा
लबुजबदरिनीपा फन्द-निन्दीवरा च ।
बकुलसनपियाला गद्दभण्डज्जुना च
कमुकसललतिन्दूदुम्बरम्बस्सकण्णा ॥७३४॥

(जो पर्वत) कटहल, अमृत, प्लक्ष (अश्वत्थ), कृष्णवन्त (पाडली), अक्ष (बहेड़ा), इमली, बड़हर, बेर, कदम्ब, स्पन्दन (हमेशा कम्पायमान एक लता) शतावरी, मोंसरो, असन (विजयसार), प्रियाल (चिरौंजी), गर्दभाण्ड (गेढ़ी), अर्जुन (कौपीतक), तूँत, शलल (मीठा एवं सुगन्धित वृक्ष), तमाल (शुर्ती), उदुम्बर (एक प्रकार का पीपल वृक्ष), अश्वकर्ण (शाल वृक्ष), ॥ ७३४ ॥

पुन्नागचम्पकदुमुप्पलदाडिमा च
खज्जूरितालगिरिमल्लिकसोकताला ।
हिन्तालतालनिचुला युगपत्तरिट्ठ-
सेतम्ब-एरवतका पि च केतका च ॥७३५॥

पुन्नाग (श्रेष्ठ वृक्ष), चम्पक (हेमवर्ण पुष्प), द्रुमोत्पल (कठचम्पा) दाडिम (अनार), खजूर, ताड़, गिरिमल्लिका (कुरैया), अशोक, तिल, हिन्ताल (वनखजूरी), निचुल (समुद्रफेन) युगपत्रक (कचनार), अरिष्ट (नीम), श्वेताम्र, ऐरावत (नारङ्गी), केतकी ॥ ७३५ ॥

सम्फुल्लभण्डिसुमनज्जकयूथिका च
वासन्ति चित्तकजपा रविमालती च ।
कुन्दस्समारककुरण्डकबीजपूर-[1]
सेफालिका च तिणसूलसमीरणा च ॥७३६॥

---

१. अस्समासककेष्टकबीजपूर–ब० ।

पुष्पित भण्डी (मंजीठ), सुमन (चमेली) अर्जक (तुलसी) पूथिका (जूही) वासन्ती (माधवीलता), चित्रक (चीता), जपा (ओडर), रवि (सूरजमुखी), मालती, कुन्द, करवीर (सदाबहार), कुरण्डक (कटसरैया) बीजपूर (बिजौरा), शेफालिका (निर्गुण्डी), तृणशूल (मल्लिका), समीरण (एक प्रकार का मसाला) ॥ ७३६ ॥

चोचुच्छुकीचकहलिद्दिविळङ्गिबिम्बि-
नीलोवचातिविसलाबु च नागवल्ली ।
वल्लीभसारदपराजितवारुसीरा
एलादिनेकवनराजिविराजितो सो ॥७३७॥

गरी, ईख, कीचक (बांस), हल्दी, विडङ्ग (चावल), बिम्बि (कुम्हणा), नील (पौधा), वच (दूब), अतिविसा (अतीस), अलाबू (कद्दू), नागवल्ली (ताम्बूल), वलिभ (एक प्रकार का कद्दू, सम्भवतः बथुआ), शारद (छितवन), अपराजिता (शालपर्णी), वारि, उशीर (खश), तथा इलायची आदि के अनेक बनो से वह (पर्वत) सुशोभित है ॥ ७३७ ॥

तिट्ठन्ति केचि तरवो सुरभिं किरन्ता
तत्थे 'व केचि फलिता मधुरप्फलानि ।
आन्दोलिता फलितपल्लविता लतायो
सन्धारयं विटपजत्तुसु भान्ति केचि ॥७३८॥

वहाँ कुछ वृक्ष सुगन्धि बिखेरते हुए स्थित हैं। वहीं कुछ मधुर फल से फलित हैं। लताएँ फल एवं पुष्पों से युक्त हो आन्दोलित हैं तथा कुछ शाखाएँ उन्हें अपने ऊपर धारण कर शोभित हो रही थीं ॥ ७३८ ॥

सामन्तगे जनगणे सततं दुमिन्दा
सम्पीणयन्ति दलिता[1] फलिनो च यस्मिं ।
ते अह्वयन्ति विय लोचनगोचरेहि[2]
वातेरितेहि तरुणारुणपल्लवेहि ॥७३९॥

---

१. दलितं–ब० । २. ०गोचरे पि–ब० ।

जिस पर पत्रों एवं फलों से लदे वृक्षराज समीप में आए लोगों को प्रमुदित करते हैं। हवा के कारण हिलने वाले, चक्षुगोचर, नए एवं लाल पल्लवों से मानों उन्हें बुलाते से हैं ॥७३९॥

तस्मिं वने वनसुरा निजसुन्दरीहि
रम्मे सिलातलदहे सिकतातले च।
नच्चन्ति तन्ति तुरियानि च वादयन्ति
गायन्ति मालभरिनो सततं पतीता ॥७४०॥

उस वन में मालाधारी वनदेवता विश्वस्त होकर अपनी सुन्दरियों के साथ रम्य बालुका से युक्त तल वाले तथा शिलातल से युक्त पोखरी पर निरन्तर नाचते, तार झंकारते एवं वाद्य बजाते थे ॥७४०॥

सिद्धा च सिद्धवनिताहि तहिं-तहिं ते
दिब्बन्ति पुप्फफलपत्तरसाभिनन्दी।
अच्छन्ति तत्थ गिरिपादपरामणेय्ये[1]
योगेहि सङ्गतमना बहितापसा पि ॥७४१॥

(वहाँ) सिद्ध अपनी सिद्धाङ्गनाओं के साथ इधर-उधर पुष्पों और फलों के रसों का आनन्द लेते हुए क्रीडा करते हैं। पर्वतों एवं वृक्षों के कारण रमणीय उस वन में योग में मन को लगाए हुए दूसरे तपस्वी भी रहते हैं ॥७४१॥

तस्मिं वने हरिणरोहितपुण्डरीक-
गोकण्णसल्लससजम्बुकसूकरा च।
साखामिगेणिमिगबब्बुरुरुकुरुङ्ग-
गोधाखुपम्पककपीगवया[2] च नेका ॥७४२॥

उस वन में अनेक हरिण, चीते, सारङ्ग, साही, खरगोश, शृगाल तथा सूअर और यहाँ तक कि बन्दर, (एण-) मृग, विडाल, रुरु मृग, बारहसिंगे, छिपकली, चूहे, लङ्गूर तथा भैंसे आदि—॥७४२॥

---

१. रामणेय्यो–ब० ।

२. आखुम्पक–ब० ।

ते वग्गचरिनो हयमारकादि-
नानाचतुप्पदगणा मुदिता वसन्ति।
पक्खी पि कोसियकपोतकनीलगीव-
धङ्काटलापपरपुट्ठमधुब्बता च ॥७४३॥

अपने-अपने समूह में विचरण करने वाले भैंसे आदि अनेक चतुष्पदीय पशु प्रसन्न हो निवास करते हैं। इसके अतिरिक्त उल्लू, कबूतर, मयूर, कौवे, बाज, बटेर कोयल तथा भँवरे—॥७४३॥

[1]निज्जिह्वदिन्दिभचकोरकसाळिका च
चक्कह्वकीरकुररा कुलला च कङ्का।
चित्तच्छदा मधुरकूजकनेकपक्खी
सङ्गम्म यत्थ निवसन्ति मनुञ्ञरूपा ॥७४४॥

—सुन्दर रूप वाले, अनेक रङ्ग के पङ्खों वाले तथा मधुर कूजन करने वाले मुर्गे, टिटिहिरी, चकोर, सारिका, कलहंसी, तोते, समुद्री बाज, बाज़ और बगुले आदि पक्षी निवास करते हैं ॥७४४॥

तेसं वनन्तमथ नाटकमण्डलं व
गीतालयं विय अहोसि च गायकानं।
आपानभूमिसदिसं मिगपक्खिकानं
निच्चु-स्सवं रतिकरं नयनाभिरामं ॥७४५॥

यह वन-प्रान्त गायक पशु-पक्षियों के लिए नाटकमण्डली के समान, गीतालय के समान तथा पानशाला के समान, नित्य उत्सवयुक्त, आनन्दकर एवं नेत्रों के लिए रमणीय है ॥७४५॥

एवं विधो[2] विपिनराजिविराजितेहि
कूटेहि नेकसुर-सुन्दरिमण्डितेहि।

---

१. नज्जिह्व०–ब०।

२. विधे–ब०।

अत्युच्चनीलसिखिगीवसमानवण्णो
एसो समन्तगिरि मे वसती मुनिन्दो ॥७४६॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! इस प्रकार के वनों से सुशोभित, अनेक सुरसुन्दरियों से अलंकृत, शिखरों से अत्यन्त ऊँचा, मयूर की ग्रीवा के समान (नीले) वर्ण वाला यह समन्तकूट मेरा निवास है ॥७४६॥

एवं पतीतमनसो सुमनाभिधानो
वत्वान नत्व-म-समं गमने[1] पयत्तं[1] ।
'कासाथ सो पि मुनि तस्स वचं पटिच्च
सब्भिक्खु निक्खमि जिनो गगनायनम्हि ॥७४७॥

विश्वस्तमन सुमन इस प्रकार भगवान् से निवेदन कर नमस्कार करके वहाँ से प्रस्थान में प्रवृत्त हुए। मुनि ने भी विश्वास के साथ उनके वचन का अनुमोदन किया। इसके अनन्तर विजयी, भिक्षुओं के साथ आकाश मार्ग से चल पड़े ॥७४७॥

निच्चेतना पि गिरिपादप-आदयो पि
नागा सुपण्णमिगपक्खिळहेतुका पि ।
विज्जाधरामरसुरा चतुरानना पि
सङ्गम्म' कंसु सुमना महमब्भुतन्ते ॥७४८॥

अचेतन पर्वत तथा वृक्ष आदि तथा नैतिकता में नहीं रहने वाले नाग एवं सुपर्ण (गरुड़), पशु, पक्षी, विद्याधर, देवता, असुर यहाँ तक कि ब्रह्माओं ने भी एक साथ हो प्रसन्न मन से महान् उत्सव मनाया ॥७४८॥

मुनिन्दे पयन्ते समिद्धं तिलोकं
गिरिन्दा' भिनन्दा दुमिन्दा पबुद्धा ।
गिरिन्दा सुतुट्ठा खगिन्दा सुघुट्ठा
पवुट्ठो महिन्दो पणत्थो निदाघो ॥७४९॥

१-१. गमनोपयुत्तं-सिं० ।

मुनिश्रेष्ठ के प्रस्थान करने पर त्रैलोक्य समृद्ध हुआ, पर्वतराज अभिनन्दित हुए, वृक्षराज चमक उठे, पशुराज सन्तुष्ट हुए, पक्षिराज सुस्वर हो गए, महेन्द्र ने वृष्टि को तथा ग्रीष्म नष्ट हो गया ॥७४९॥

गच्छन्ते गगनायनेन सुगते भानू'सि सन्तो तदा
वारेसुं सुरियातपञ्च जलदा सिञ्चिसु[1] भूम्या जलं ।
मन्दामन्दसुगन्धमुद्धपवना[2] पापेन्ति[2] सीतं सुखं
देवादी धजछत्तचामरकरा पूजेन्ति मानेन्ति च ॥७५०॥

आकाश-पथ से सुगत के जाते समय सूर्य शान्त थे। बादल सूर्य की गर्मी को रोकने लगे तथा उन्होंने भूमि पर जल का सेंचन किया। अधिक सुगन्धित मन्द पवन ने सुखद शीतलता प्रदान की। देव आदि ध्वज, छत्र, चँवर हाथ में लिए हुए पूजा कर रहे थे तथा उन्हें सम्मान दे रहे थे ॥७५०॥

सन्नीरहिन्तालगसिन्दिपूग-
तालम्बसालादिमहीरुहिन्दा ।
तिट्ठन्ति ते चामरहत्थका व
पुप्फेहि छन्नो गगनङ्गनो पि ॥७५१॥

नारियल, वनखजूरी, छुहारा, सुपारी, ताड़, आम, शाल आदि वृक्षराज मानों हाथ में चामर लिए खड़े थे, (क्योंकि) पूरा आकाश-प्राङ्गण पुष्पों से आच्छादित था ॥७५१॥

अनेन विधिना जगदेकनाथो
पवत्तमानेसु महामहेसु ।
दिसं च विदिसं परिपूरयन्तो
छब्बण्णरंसीहि अगा नगिन्दं ॥७५२॥

---

१. सिञ्चिसु–ब० ।
२-२. पवनो पापेति–ब० ।

इस प्रकार उत्सव (सम्पन्न) किए जाते ही अपने छः प्रकार के रंगों वाली किरणों से दिशाओं तथा विदिशाओं को भरते हुए संसार के एकमात्र स्वामी पर्वत-राज (समन्तकूट) पर पहुँचे ॥७५२॥

तस्मिं समन्तनगमुद्धनि लोकनाथो[1]
छब्बण्णरंसिनिकरं दिसि पत्थरन्तो ।
भिक्खूहि सो परिवुतो परसागरन्तं
ओलोकयं ठितिं अकासि[2] अनोमवण्णो ॥७५३॥

उस समय छः रंगों वाली अपनी शारीरिक प्रभा को दिशाओं में फैलाते हुए, उत्तम वर्ण वाले, भिक्षुओं से घिरे, संसार के स्वामी उस पर्वत पर सागर के दूसरे छोर को देखते हुए स्थित हुए ॥७५३॥

लङ्कावधूसुमनकूटकिरीटकूटं
सज्जेसि' नग्घ-जिनराजमणी महत्तो ।
इच्छत्थदं सिवदमप्पटिमं तिलोके
तं दानि भो भजथ सेवथ सब्बकालं ॥७५४॥

विजेताओं में श्रेष्ठ राजा रूपी अमूल्य एवं महान् मणि (सुगत) ने लङ्का रूपी वधू के 'सुमनकूट' रूपी मुकुट के अग्रभाग को सुसज्जित किया। अरे! इच्छानुसार देने वाले, कल्याणप्रद एवं तीनों लोकों में अप्रतिम उस पर्वत की सदा पूजा करो, उसकी सेवा करो ॥ ७५४ ॥

कासुं तदा सुरवरा सुरसुन्दरीहि
लङ्काय सेलसिखरेसु महासमज्जं ।
वज्जिसु भेरिविकती सयमेव सब्बा
भस्सिसु दिब्बकुसुमाभरणा नभम्हि ॥७५५॥

उस समय लङ्का के शैलशिखरों पर महान् देवताओं ने (अपनी) सुन्दरियों के साथ महान् उत्सव मनाया। हर प्रकार की भेरियाँ स्वयं ही बज उठी और आकाश से दिव्य पुष्पों के आभूषण गिरने लगे ॥ ७५५ ॥

---

१. नाथे-ब० । २. अकास' मनोम०-ब० ।

लङ्कम्बरं निखिलमासि च छत्तछन्नं
नानाविरागधजकेतुसमाकुलञ्च ।
नानासुगन्धकुसुमादिघनन्तरालं
नागग्घिकावलिविराजितमन्तलिक्खं ॥७५६॥

लङ्का के ऊपर का आकाश छत्रों से ढंका हुआ तथा अनेक रंगों की ध्वजाओं और पताकाओं से व्याप्त था। विभिन्न छत्रों के मध्य का भाग नाना सुगन्धित पुष्पों से भरा हुआ था तथा अन्तरिक्ष अनेक प्रकार के अर्घ्यपंक्तियों से सुशोभित था ॥७५६॥

तस्मिं दिने 'सि रतनं मणितोरणेहि
दीपालिपुण्णघटपन्तिहि दिस्सनीयं[1] ।
सम्बुद्धदेहपरितो गतछप्पभाति[2]
रत्तं नभावनिचराचरसब्बदब्बं ॥७५७॥

उस दिन वह (लङ्का) रत्न, मणि के बने तोरणों, दीपों तथा भरे हुए घटों से दर्शनीय थी। आकाश एवं पृथ्वी पर (विद्यमान) सभी वस्तुएं सम्बुद्ध के शरीर से चारों तरफ फैलने वाली छः प्रकार की रश्मियों से अतिरञ्जित थीं ॥ ७५७ ॥

मालावतंससमका गिरयो समन्ता
हुत्वा नमन्ति च[3] भमन्ति[3] सचेतना व ।
सब्बेपि तत्थ तरवो च लतादयो च
नच्चन्ति दिब्बनटका विय वोनतग्गा ॥७५८॥

सिर के माला रूप आभूषण के साथ पर्वत चेतन प्राणियों की भाँति चारों तरफ नमस्कार करते एवं घूमते थे। वहाँ के सभी वृक्ष एवं लताएं अपने अग्रभाग को झुकाए हुए दिव्य नर्तकों की भाँति नृत्य कर रहे थे ॥ ७५८ ॥

एवं तदा महति विम्हयपाटिहेरे
बुद्धानुभावजनिते[4] इध वत्तमाने ।
नत्वान धीरचरणं सुमनो सुधासी
एवं वदी परमपीतिमनो उदग्गो ॥७५९॥

---

१. ०इय्यं–ब० । २. भाहि–ब० । ३-३. अपि हन्ति–ब० । ४. ०जनितं–ब० ।

इस प्रकार बुद्ध के प्रभाव से विस्मय भरे चमत्कारों के उत्पन्न होने पर सुधाभोगी, विजयोन्मत्त सुमन (देवता) धीर-पुरुष के चरणों में प्रसन्न मन से नमस्कार कर इस प्रकार बोले ॥ ७५९ ॥

"ये ते मुदू कोमलरत्तपादा
सुरत्तफुल्लम्बुरुहोपमाना[1] ।
वट्टानुपुब्बायत-अङ्गुलीका
सुतम्बतुङ्गग्गनखावलीका ॥७६०॥

"आपके कोमल एवं लाल चरण पुष्पित लाल कमल के समान मृदु हैं। आपके पैरों की अंगुलियाँ गोल एवं लम्बी हैं तथा नाखूनों की पंक्तियाँ तांबे के रंग की तथा ऊँची हैं ॥ ७६० ॥

सुवण्णकुम्मुन्नतपादपिट्ठि-
निगूळ्हगोप्फायतपण्हिभागा ।
समच्छमायं सकलं पतिट्ठिता
न लिम्पते सुच्छविता रजादि ॥७६१॥

आपके चरणों का ऊपरी भाग सुनहरे कच्छप के समान ऊपर उठा हुआ है। टखने ढंके हुए तथा एड़ियाँ लम्बी हैं। आपके चरण सम्पूर्ण रूप में बराबर पृथ्वी पर प्रतिष्ठित तथा अच्छी तरह से त्वचा उखाड़े हुए के समान धूल से निर्लिप्त हैं ॥ ७६१ ॥

सम्मत्तहत्थोसभहंससीह-
समानलीलाय यहिं पयाति ।
निन्नुन्नता भेरितला व भूमि
होताथ पुप्फादिसुमण्डिता च ॥७६२॥

मस्त हाथी, साँड़, हंस एवं सिंह के समान लीला में ये (चरण) जहाँ भी जाते हैं, यह पृथ्वी भेरी के तल के समान दब जाती है तथा फिर ऊपर उठती है और पुष्प आदि से सज्जित हो जाती है ॥ ७६२ ॥

१. ०अम्ब०-ब० ।

अपेन्ति मग्गा सयमेव खाणु[1]
सकण्टमूला[2] कथला च सब्बे ।
गम्भीरनीरापगपङ्कदुग्गा
हित्वा सभावं रमणीयमेन्ति ॥७६३॥

आपके मार्ग से स्थाणु, काँटे, उनके मूल एवं कंकण स्वयं ही दूर हो जाते हैं। गहरे जल, नदी एवं कीचड़ वाले रास्ते अपने स्वभाव को छोड़कर रमणीय बन जाते हैं ॥ ७६३ ॥

वजन्ति भूमिं गिरयो पुरत्थ
पसारिते पादवरे जिनस्स ।
निब्बाति अग्गी नरकोदरे पि
गण्हन्ति पादे पदुमादयो च ॥७६४॥

विजयी के श्रेष्ठ चरणों के फैलाते ही आगे आने वाले पर्वत भूमि में चले जाते हैं। नरक के मध्य की अग्नि भी बुझ जाती है तथा कमल उनके कदम पकड़ लेते हैं ॥ ७६४ ॥

इदं हि ते पादतले यतीस
सनाभिनेमिघटिकावलीहि ।
सुसण्ठितं चारसहस्सवन्तं
सन्दिस्सते चक्कवरं महन्तं ॥७६५॥

हे मुनीश ! आपके चरण-तल में धुर्रा, चक्का एवं चक्के को धुर्रे से जोड़ने में काम आने आने वाली) घटिकाओं से तैयार किया हुआ हजार अरों वाला यह महान् चक्र दृष्टिगोचर हो रहा है ॥ ७६५ ॥

तमेव चक्कं परिवारयित्वा
सिरिवच्छ सोवत्थिवतंसका च ।

---

१. बानु–ब० ।
२. कण्ठ–ब० ।

पासादभद्रासनपुण्णपाति-
सितातपत्तासिमयूरहत्था ॥७६६॥

उसी चक्र के चारों तरफ घेर कर श्रीवत्स, स्वस्तिक, आभूषण, महल, सिंहासन, भरा हुआ पात्र, श्वेतच्छत्र, मयूर एवं हाथी—॥ ७६६ ॥

नीलादिभेदा कमलुप्पला च
स-मेरु-सत्तद्दिमहासमुद्दा ।
सत्तापगा सत्तमहासरा च
हिमालयो चक्कवाळद्दिको च ॥७६७॥

—नील आदि भेद से कमल एवं उत्पन्न, मेरु सहित सप्त पर्वत[1] सात महासमुद्र, सात नदियाँ, सात महाजलाशय[2], हिमालय एवं चक्रवाल पर्वत ॥ ७६७ ॥

चन्दक्कतारा च छदेवलोका
पितामहावासमनुस्सलोकं ।
सुवण्णनावा सिविकं च सङ्खं
केलाससेलं धजतोरणा च ॥७६८॥

—चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, छः देवलोक[3], ब्रह्मलोक, मनुष्यलोक, स्वर्णिम नाव, पालकी, शङ्ख, कैलाश पर्वत ध्वज तथा तोरण—॥ ७६८ ॥

चिन्तामणुण्हीससवच्छधेनू
मीनद्वयं चक्कवत्ती ससेनो ।

---

१. सात पर्वत—युगन्धर, ईशधर, करबीर, सुदर्शन, नेमिधर, विनतक तथा अश्वकर्ण (अभिधान पृ० ७) ।

२. सात महाजलाशय–अनोतप्त, कर्णमुण्ड, रथकारक, छद्दन्त, कुणाल, मन्दाकिनी एवं सिंहप्रपात (अभिधान० १२१)

३. छः देवलोक—चातुर्महाराजिक, याम, तुषित, तावतिंस, निर्माणरति एवं परनिर्मितवशवर्ती (पाइंडि–छदेव)

सीहस्समातङ्गवियग्घराजा
हंसोसभो किम्पुरिसो मयूरो ।।७६९।।

—चिन्तामणि, उष्णीष (पगड़ी), बछड़े सहित गाय, मछलियों का जोड़ा, सेना सहित चक्रवर्ती, सिंह, अश्व, मातङ्ग (हाथी), व्याघ्रराज, हंस, साँड़, किन्नर और मयूर ॥ ७६९ ॥

कोञ्चा च एरावणहत्थिराजा
सचक्कवाका मकरादयो च ।
नानामहामङ्गललक्खणा ते
विरोचमाना विलसन्ति निच्चं ।।७७०।।

—बगुला, हस्तीराज ऐरावत, चक्रवाक पक्षी, मगर आदि अनेक महामङ्गल के लक्षण आपके (पास) द्योतित होते हुए नित्य सुशोभित हैं ॥ ७७० ॥

जातक्खणे यस्स महिं पभेज्ज
विसालसत्तुद्दयपङ्कजानि ।
पटिग्गहेसुं चरणानि यानि
ते तानिमानच्छरियानि लोके ।।७७१।।

आपके जन्म के समय पृथ्वी का भेदन करके सात सतहों पर उगे कमलों ने जिन चरणों को पकड़ लिया, वे आज के संसार में आश्चर्यकर हैं ॥ ७७१ ॥

वन्दापनत्थायु' पनीतकाले
पितूहि ते देवलतापसिन्दं ।
पादानि गन्त्वान जटासु तस्स
आसुं तवेतङ्घियुगं अहो भो ।।७७२।।

आपके माता-पिता द्वारा वन्दना हेतु आपको देवल ऋषि के पास ले जाते समय आपके ये चरण जाकर उनकी जटाओं तक पहुँच गये। आश्चर्य है आपके इन दो चरणों पर ॥ ७७२ ॥

सुद्धोदनव्हस्स नराधिपस्स
सन्तोसतोयेहि पपूरितस्स ।
सिरोविसुद्धम्बुरुहाकरस्स
सरोरुहा'सुं चरणानि तुय्हं ॥७७३॥

शुद्धोदन नामक राजा के सन्तोष रूपी जल से भरे, सिर रूपी विशुद्ध कमलाकर के कमल ये तुम्हारे चरण थे ॥ ७७३ ॥

ये[1] चङ्कमे चङ्कमनावसाने
ओनम्म मेरूदयपब्बतिन्दा ।
पटिग्गहेसुं चरणानि यानि
इमानि ते तानि महब्भुतानि ॥७७४॥

विहरण काल में चङ्क्रमण के अन्त में मेरु और उदयाचल जैसे पर्वतराजों ने नमस्कार पूर्वक जिन चरणों को पकड़ लिया था, ये वे ही अद्भुत चरण हैं ॥ ७७४ ॥

यं वन्दमानो तिदिवाधिपो सो
यस्सानुभावेन गतायुको पि ।
सकीयठाने'सि पुना पि ते' यं
पादम्बुजं धीर महानुभावं ॥७७५॥

अवधि समाप्त होने पर भी स्वर्ग का राजा इन्द्र जिन चरणों की वन्दना करते हुए इनके प्रभाव से एक बार पुनः अपने पद पर आसीन हुआ है । हे धीर । यह आपके चरण-कमल की महानता है ॥ ७७५ ॥

देहीनमग्गो पि निसाकरारी
मानुन्नतो सो सयितस्स तुय्हं ।
पादस्स अन्तम्पि न सक्खि दट्ठुं
अच्छेररूपं इदमङ्घिकञ्जं ॥७७६॥

---

१. यो-ब० ।

शरीरधारियों में श्रेष्ठ राहु अभिमान से गर्वित हो, सोते हुए आपके चरणों के अग्रभाग को भी देख तक नहीं सका। यह आपके चरण-कमल का अद्भुत रूप है ॥ ७७६ ॥

गङ्गाय गङ्गापतिसन्निधाने
तीरे तदा नम्मदजिम्हगस्स ।
पादस्स लञ्छं अकरी मुनिन्द
मह्यम्पि होतं करुणा तवे'सा ॥७७७॥

नर्मदा नदी के तीर पर उस स्थान पर आपने अपना चरण चिह्न अंकित किया है, जहाँ नदी समुद्र से मिलती है। हे ऋषिराज! क्या यह कृपा हमारे ऊपर भी होगी ॥ ७७७ ॥

आराधितो सच्चकतापसेन
अका तुवं सच्चकबद्धसेले[1] ।
पादस्स लञ्छं जगतो हिताय
मह्यम्पि होतं[2] तमनुग्गहन्ते ॥७७८॥

आपने सच्चक ऋषि से आराधित हो सच्चकबद्ध पर्वत पर संसारहित के लिए चरण का चिह्न अंकित किया था। आपका यह अनुग्रह क्या हमारे ऊपर भो होगा ॥ ७७८ ॥

सुत्वान नाथो गिरमेतमस्स
पस्सं महाभूतिमनागतेसु ।
लोकस्स लोकेहि महीयमानो
अकासि वामेन पदेन लञ्छं ॥७७९॥

इस प्रकार उनकी वाणी को सुनकर तथा भविष्य में संसार द्वारा पूजित होने पर इससे लोक का महान् कल्याण देखकर अपने बाएं चरण से चिह्न अंकित किया ॥ ७७९ ॥

---

१. तवुं सच्चकबद्धसेले–ब० ।

२. भो तं–ब०।

सम्बोधितो अट्ठमसारदम्हि
वेसाखमासे मुनि पुण्णमायं।
पादस्स' भिञ्ञाणमका 'परण्हे
सदेवके सस्समणे महन्ते ॥७८०॥

सम्बोधि प्राप्ति से आठवें शरद (ऋतु) में बैशाख मास की पूर्णिमा को अपराह्न में मुनि ने चरण का अभिज्ञान (पहचान) बनाया। देवता, श्रमण तथा अन्य लोग उसकी पूजा करने लगे ॥७८०॥

पतङ्किका सित्थकमत्थकम्हि[1]
यथ' ङ्किता खद्दियमुद्दिकाय।
असे' वमेवं जिनपादलञ्छं
समन्तकूटम्हि नमस्सनीयं ॥७८१॥

क्षत्रिय की राजमुद्रा हेतु जैसे मोम पर पतङ्गा अङ्कित किया जाता है, उसी प्रकार विजयी के चरण का (अङ्कित) चिह्न भी समन्तकूट पर्वत पर नमस्करणीय है ॥ ७८१ ॥

अकालमेघो च ततो पवस्सि
वस्सिसु नानारतनानि खम्हा।
तथा[2] परीतो[3] कुसुमम्बरानि
सुवण्णचुण्णानि जिन' एकवण्णा ॥७८२॥

उस समय अकालमेघ ने वर्षा की, आकाश से अनेक प्रकार के रत्न बरसने लगे। एक ही वर्ण के पुष्प-वस्त्र एवं स्वर्णिम चूर्ण विजयी के चारों तरफ गिरने लगे ॥ ७८२ ॥

ततो' पगन्त्वा सुगतेभगामी
तस्मि नितम्बे गिरिगब्भरायं।
दिवाविहाराय[4] निसीदि यत्थ
सुपाकटं तं भगवागुहा' ति ॥७८३॥

---

१. सित्थकम्हि–ब०। २. तथे–ब०। ३. परीसो–सिं०। ४. दिवाविहारायं–ब०।

इसके अनन्तर हाथी की चाल वाले सुगत उस टीले पर एक गुफा में जाकर धूप से आराम पाने हेतु जिस स्थान पर बैठे, उसे बाद में भगवान्-गुफा के नाम से जाना गया ॥ ७८३ ॥

ततो' रहन्ता सुगतोरसा ते
गन्धादिना साधु महेत्व सब्बे ।
वन्दित्व कत्वान पदक्खिणं तं
तहं तहं' कंसु दिवाविहारं ॥७८४॥

इसके अनन्तर सभी जिनपुत्र अर्हत् गन्ध आदि से भली-भाँति पूजा, वन्दना तथा प्रदक्षिणा कर इधर-उधर दिवा-विहार करने लगे ॥ ७८४ ॥

लतङ्गनायो विटपीधवानं
आलम्ब साखापुथुलं सपस्से ।
सुफुल्लमञ्जूकरमञ्जरीहि
नमस्समाना व सदो' नतग्गा ॥७८५॥

लता रूपी सुन्दरियाँ वृक्ष रूपी अपने पतियों के शाखा रूपी पृथुल कंधे और बाहुओं का सहारा लेकर सुपुष्पित एवं सुन्दर शाखाओं रूपी मञ्जरीयुक्त हाथों से अवनत हो सदा नमस्कार करने लगीं ॥ ७८५ ॥

तिट्ठन्ति विटपी[1] नटका व तत्थ
सुफुल्लसाखाकरमुक्खिपित्वा ।
नमस्समाना विय ओनतग्गा
वत्तन्ति' मान' च्छरियानि निच्चं ॥७८६॥

वहाँ पर वृक्ष नर्तक के समान सुपुष्पित शाखा रूपी हाथों को ऊपर उठाकर अवनत हो नमस्कार करते हुए के समान रहते थे। यह आश्चर्यक (कृत्य) वहाँ हमेशा होता था ॥ ७८६ ॥

तत्थे' व उच्चावचपब्बता च
नमस्समाना विय पादलञ्छं ।

१. रुक्खा–सिं० ।

तिट्ठन्ति निन्नग्गसिखा समन्ता
इदम्पि निच्चब्भुतमेव तत्थ ॥७८७॥

वहाँ के ऊँचे-नीचे पर्वत भी चरण-चिह्न को नमस्कार करते हुए के समान अपनी चोटियों को झुकाए हुए चारों तरफ खड़े रहते थे। यह अचरज भी वहाँ नित्य होने लगा ॥ ७८७ ॥

तस्मिं नगे पादवरङ्कितस्मिं
खलमण्डलोकासपदेसमत्ते[1] ।
समोसरन्ते बहुके[2] जने पि
होते' व ओकासमहो पदङ्कं ॥७८८॥

चरण-चिह्न से अङ्कित उस पर्वत पर बहुत लोगों के आने-जाने पर भी खरल के मण्डल के बराबर स्थान खाली ही रहता था। आश्चर्य है उस चरण-चिह्न पर ॥ ७८८ ॥

समोसरित्वान महेत्व सत्ते
निक्खन्तमत्ते जलदा समेच्च ।
सोधेन्ति माल' म्बुवहेहि साधु
इदम्पि निच्चब्भुतमेव तत्थ ॥७८९॥

एकत्रित होकर पूजा करने के बाद लोगों के चले जाने पर मेघ एकत्रित होकर घेरा बनाकर जल की धारा से उसका शोधन कर देते हैं। वहाँ यह भी आश्चर्य नित्य होता रहता है ॥ ७८९ ॥

पादेन फुट्ठस्स सिलातलस्स
एतादिसान' च्छरियानि होन्ति ।
लोकेकनाथस्स अनासवस्स
महब्भुतं को नु कथं भणेय्य ॥७९०॥

---

१. मण्डलेकास०–ब० ।

२. बहवो–ब० ।

जिनके चरण से स्पृष्ट शिलातल के ऊपर इसी प्रकार की आश्चर्यकर घटनाएं होती हैं, ऐसे संसार के एकमात्र स्वामी, आश्रवहीन (सुगत) की श्रेष्ठ अद्भुत कथा को कौन कह सकता है ॥ ७९० ॥

दिवाविहारं भगवा ससङ्घो
कत्वान तस्मिं पन किञ्चिकालं ।
महीयमानेसु सदेवकेसु[1]
ततो गतो रोहणमम्बरम्हा ॥७९१॥

उस पर्वत पर सङ्घ के साथ कुछ देर दिवा-विहार करने के बाद भगवान् देवताओं सहित लोगों द्वारा पूजा किये जाते हुए आकाशमार्ग से रोहण[2] पहुँचे ॥ ७९१ ॥

तस्मिं ससङ्घो मुनि दीघवापियं[3]
थूपस्स ठाने परमाय भूमिया ।
गरुं करोन्तो पन तं महीतलं
निरोधभावेन निसीदि सत्रजो ॥७९२॥

वहाँ 'दीर्घवापी' में, जहाँ बाद में स्तूप का स्थान है, उस श्रेष्ठ स्थान को संघ सहित मुनि ने महान् बनाते हुए अपने औरस पुत्रों के साथ 'निरोध' भाव (साधना का एक स्तर) से आसन ग्रहण किया ॥ ७९२ ॥

ततो' नुराधं भगवा नभम्हा
गन्त्वान बोधिट्ठितभूमिया[4] च ।
ठाने महामङ्गलचेतियस्स[5]
तथेव अक्खन्निहितस्स ठाने ॥७९३॥

---

१. सुदेव०–ब० ।

२. लङ्काद्वीप का दक्षिण-पूर्व भाग जो उत्तर की ओर से महाबालुक नदी से घिरा है। (मलल० रोहण) ।

३. ०या–ब० । ४. ०भूमिपञ्च–ब० । ५. ०यञ्च–ब० ।

तत्पश्चात् भगवान् आकाश (–मार्ग) से अनुराधपुर जाकर, जहाँ बाद में बोधिवृक्ष स्थित हुआ, जहाँ महामङ्गल चैत्य का निर्माण हुआ तथा इसी प्रकार जहाँ अक्ष[1] रखा गया ॥ ७९३ ॥

निसीदि पत्वान निरोधपीतिं
ससावको पेक्खमनागतद्धं ।
पतिट्ठिता मे पन बोधिधातु
करोन्ति लोके ति जनस्स बुद्धिं ॥७९४॥

—भविष्य का अवलोकन कर निरोध से उत्पन्न प्रीति को प्राप्त कर और यह सोचकर कि "मेरा अक्ष एवं बोधिवृक्ष प्रतिष्ठित होने पर संसार में लोगों का कल्याण करेंगे" शिष्यों सहित बैठ गये ॥ ७९३ ॥

उट्ठाय[2] वुट्ठो भगवा निरोधा
गतो सिलाथूपवरस्स ठानं ।
ठितो तहिं धम्म[3] मदेसयित्वा
गतो नभा जेतवनं सुरम्मं ॥७९५॥

इति लङ्काय ततियं गमनं

उस 'निरोध' भाव से उठकर सन्तुष्ट हो भगवान् श्रेष्ठ शिलास्तूप वाले स्थान पर गये। वहाँ स्थित हो धर्म का उपदेश देकर आकाश (–मार्ग) से सुरम्य जेतवन में पहुँच गये ॥ ७९५ ॥

लङ्का में तृतीय गमन पूर्ण ॥

---

१. अक्ष–गर्दन के नीचे की अस्थि (अभिधान० १)

२. वुट्ठाय–सिं ।

३. धम्मपदेसयित्वा–ब०, धम्ममथद्दिसित्वा–सिं० ।

एवं सो धम्मराजा जनहितविहितो वीतदोसारिवग्गो
लङ्कारामाय[1] रम्मे सुमनगिरिसिरे' कासि यं पादलञ्छं ।
तं वो सग्गापवग्गं ददति मुनिसमं चित्तमत्ते पसन्ने
तस्मा भो भो पहट्ठा नमथ महथ तं साधु साधुप्पसत्थं ।।७९६।।

इति समन्तकूटवण्णना निट्ठिता ।

इस प्रकार धर्मसम्राट्, लोगों का हित करने वाले, दोष रूपी शत्रुओं से मुक्त उस सुगत ने लङ्का रूपी उद्यान के रमणीय सुमन पर्वत के शिखर पर जो चरण-चिह्न बनाया, वह आपको चित्त के स्वच्छ-मात्र होने पर स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करता है। इसलिए अरे! सज्जनों द्वारा प्रशांसित उस (चरण-चिह्न) को प्रसन्न होकर नमस्कार करो, उसकी पूजा करो ॥ ७९६ ॥

समन्तकूटवर्णना समाप्त ॥

१. ०रम्माय-ब० ।

पत्थना

अनन्तरा समत्ता' यं सुमनद्दिसुवण्णना ।
तथे' व साधुसङ्कप्पा[1] खिप्पं पप्पोन्तु पाणिनं ॥७९७॥

सुमनकूट का यह वर्णन निर्विघ्न समाप्त हुआ। इसी प्रकार प्राणियों के अच्छे संकल्प शीघ्र ही पूर्णता को प्राप्त करें ॥ ७१७ ॥

निगमनं

यो याचितो' रञ्ञवासी गुणाधारसुधीमता ।
राहुलत्थेरनामेन विस्सुतेन महीतले ॥७९८॥

जो अरण्यवासी, गुणों के आधार तथा बुद्धिमान् एवं पृथ्वीतल पर राहुल स्थविर नाम से विख्यात (भिक्षु) के द्वारा प्रार्थित हुए ॥ ७९८ ॥

भुवनोदरम्हि पञ्ञातो रवीव' म्बरमण्डले ।
अरञ्ञरतनानन्दमहाथेरो महागणो ॥७९९॥

आकाशमण्डल में सूर्य के समान लोक के मध्य प्रसिद्ध अरण्य (सम्प्रदाय) के लिए रत्नस्वरूप, अनेक शिष्यों वाले आनन्द महास्थविर ॥ ७९९ ॥

जीवितं विय यो सत्थुसासनस्स महाकवी ।
सारो सुप्पटिपत्तीसु सत्थसागरपारगो[2] ॥८००॥

महाकवि, शास्ता के संघ के जीवन के समान, प्रतिपत्ति अर्थात् तत्त्वाधिगम के सारभूत तथा शास्त्र रूपी समुद्र के पार तक पहुंचे हुए थे ॥ ८०० ॥

तस्स[3] सिस्सो' सि यो विप्पगामवंसेककेतुको ।
ञातागमो' रञ्ञवासी सीलादिगुणभूसणो ॥८०१॥

---

१. ०कप्प–ब० ।

२. सत्था०–ब० ।,

३. तस्सा–ब० ।

उनका एक शिष्य था, जो विप्रग्राम वंश का एकमात्र ध्वज था, आगमों का ज्ञाता, अरण्यवासी तथा शील आदि गुणों के आभूषणों से युक्त था ॥ ८०१ ॥

यो[1] का सीहलभासाय सीहलं सद्दलक्खणं।
तेन वेदेहथेरेन कतायं पियसीलिना[1] ॥८०२॥

'सिद्धि अत्थु'[2]

जिसने सिंहली भाषा में 'सिहलशब्दलक्षण' की रचना की, उसी शीलप्रिय विदेह स्थविर द्वारा यह ग्रन्थ भी रचित है ॥ ८०२ ॥

'कल्याण हो'



---

१. यम्पि सीलिना—ब० ।
२. सिद्धिर् अत्थु सुभमस्तु—ब० ।

ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतू तेसं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवंवादी महासमणो॥

परिशिष्ट

ग्रन्थगतगाथानुक्रमणिका

२७

●

सन्दर्भ ग्रन्थ

1· Pāli Literature of Cylone : G. P. Malalaśekhar,
M. D. Guṇasen & Company, Colombo.

2. Dictionary of Pāli Proper Names : G. P. Malalaśekhar
Oriental Reprint, New Delhi.

3. Pāli-English Dictionary : Rhys Dewid, Oriental Reprint.

4. Samantakūṭavaṇṇanā : Ed. C. E. Godakumbura, P. T. S. 1958.

5. History of Pāli Literature : B. C Law,
Indological Book House, Varanasi.

6. Pāli Literature and Language : Gaiger.

7. समन्तकूटवण्णना : (सिंहली) गुणसेन सहसमागम, कोलम्बो

8. पालि साहित्य का इतिहास : भरत सिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

9. जातक (हिन्दी अनुवाद) : भदन्त आनन्द कौशल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

10. अभिधानप्पदीपिका : स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी।

11. विसुद्धिमग्गो : स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी।

12. अपदानपालि : नव नालन्दा महाविहार नालन्दा

13. कथावत्थुपालि : ,, ,, ,,

14. खुद्दकपाठपालि : ,, ,, ,,

15. जातकपालि : ,, ,, ,,

16. दीघनिकायपालि : ,, ,, ,,

17. पटिसम्भिदामग्गपालि : ,, ,, ,,

18. संयुत्तनिकायपालि : ,, ,, ,,

19. बुद्धवंस-अट्ठकथा : ,, ,, ,,

20. सुत्तनिपात अट्ठकथा : ,, ,, ,,

21. अमरकोश : चौखम्वा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी।

22 बुद्धगुणालङ्कार : बुद्ध विहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ।

23. संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ : रामनारायणलाल बेनी प्रसाद, इलाहाबाद।

24 सुगतकायपरिमापप्रकरणचिन्तामणि : पेनपा दोर्जे
केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान लेह : लदाख

25. सुत्तनिपात : भिक्षु धर्मरक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

●

सुद्धिपण्णं

असुद्धपाठो	पिट्ठङ्का	पन्ति	सुद्धपाठो
कामदेब	३	८	कामदेव
पूर्वांचल	३	१९	पूर्वाचल
बह	१४	७	वह
देबताओं	१४	२२	देवताओं
जाना जाना	१९	७	जाना
धरिन्तो	३४	१६	धारेन्तो
करोन्तं ट्ठा	३६	२	करोन्त'ट्ठा
अञ्ज	४३	३	अज्ज
पारंडि	४४	१९,२३	पाइंडि
की	४५	४	को
महामेच	५०	७	महामेघ
इन्द्रचापा	५०	१८	इन्दचापा
क्षर	५४	१९	क्षण
बही	५४	१९	वही
सजोजिका	५५	९	सजोतिका
वह राखवृष्टि	५८	८	राखवृष्टि
कण्ठीखाकार०	६७	१५	कण्ठीरवाकार०
अभेज्जिन्द्रिय०	७२	१७	अभेज्जिन्दिय
अभेय	७२	१८	अभेद्य
अब्भुग्तं	७७	४	अब्भुग्गतं
की	७७	१७	को
मय	७८	५	मम
पराजथ	८१	१६	पराजय
येन'व	८५	११	येने'व
मेत्तं	९४	१०	नेत्तं
बँठे	९५	५	बैठे
तृष्ण	१०२	१२	तृष्णा
पयसि	१०४	४	पयासि
छोड़ उसे	१११	१९	उसे छोड़
विच्चा	११२	१८	विज्जा

असुद्धपाठो	पिट्ठङ्का	पन्ति	सुद्धपाठो
निमन्त्रणं	११२	२०	निमन्तणं
क्षर	११३	१२	क्षण
आरद्ध	११५	१	आरञ्ञ
बाले	११९	१३	वाले
सुरोभित	१३२	१०	सुशोभित
पतुतर	१३७	६	पट्टुतर
कुसुवत्था	१४१	१२	कुसुमवत्था
प्रसंसित	१४२	७	प्रशंसित
अन्तर	१४५	१७	अनन्तर
मज्जिट्ठा	१६४	२	मञ्जिट्ठा
सयम्पति	१६६	२३	सहम्पति
लोक	१६८	९	लोग
बन्दना	१६९	१९	वन्दना
रमनीय	१७५	३	रमणीय
पूथिका	१८१	१	यूथिका
थीं	१८१	२१	हैं
थे	१८२	१०	हैं
वग्गचरिनो	१८३	१	वग्गवग्गचरिनो

